द्वितीयावृत्तिकी प्रस्तावना

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् । कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥

पूज्यपाद–

वहिरंगमें अपने प्रयोजनसे अनेक प्रकारके कार्योंको वचन व कायसे अतत्पर होकर करने पर भी प्रतिसमय मनमे आत्मज्ञानकी भावना करनी चाहिये जिससे आत्मबल बढता है।

यह आधिभौतिकयुग है, आध्यात्मिकयुग नहीं। वर्तमानमे भौतिकउन्नति के लिये सर्वत्र साधन सामग्रियोंको जुटाते है। उसके लिये सर्वत्र अनुकूलता मिलती है। भौतिक उन्नतिके शिखरपर पहुचने मात्र से ही इस युगमे मनुष्य अपनेको कृतकृत्य समझने लगता है। भौतिकभोगके पीछे मनुष्य सर्वस्व खोनेको तयार होता है। यहातक कि वह आध्यात्मिकयोगको बिलकुल भूल जाता है, उसे सर्वसर्वा पुद्गलोमे ही सुखका अश प्रतीत होने लगता है। वह लौकिक भोगविलासोंमें ही रातदिन अपना समय व्यतीत करनेमें अपना धर्म समझता है। इसका फल यह होता है कि धर्मसे उसकी उपेक्षा होती है, सुसंस्कारोंका पालन ढकोसला समझा जाता है, चारित्रका आचरण व्यर्थ मानने लगता है, फिर आध्यात्मिक योग तो बहुत दूर। इसलिये इस विलासिताके राज्यमे सर्वत्र स्वेच्छाचार ही फैलकर सबका व्यवहार अपने स्वार्थसाधनोंकी पूर्तिके लिये बनजाता है। जिससे सर्वत्र अशांतिका वातावरण पैदा होता है, किसीको सुख नहीं मिलता है। आज भारतवर्ष अन्य देशोके समान आधिभौतिक उन्नतिके अनुकरण करनेका प्रयत्न कर रहा है, इसीलिये उसकी छिन्नभिन्नदशा है।

पूर्वाचार्योने यह बहुत दूरदर्शिता व स्वानुभवपूर्वक निश्चय किया है कि आत्मबलको बढानेसे सर्व सुखकी सिद्धि होती है। आध्यात्मिकबलसे यह मनुष्य लोकविजयी हो सकता है। अन्यथा नहीं। इस पंचमकालमें जब कि सर्वत्र भौतिकवादका बोलबाला है जब कि प्राणियोका मार्ग अंधकारमय बनगया है ऐसे समय मे आध्यात्मिक विषयोके उपदेश देकर प्राणियो को मार्ग बतलानेवाले वीतरागी निस्पृहसाधुवोकी आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति प्रात:स्मरणीय आचार्य श्री शातिसागरके अवतार से हुई। आपने अपने दिव्य तेज द्वारा भारतवर्षमे फिर उस आध्यात्मिकज्योतिको फेंककर जो लोग अंधकारमें थे, उनके चित्तमे अशत: क्यो नहीं प्रकाश उत्पन्न किया, मार्गभ्रष्ट लोग फिरसे मार्गमे आने लगे, संस्कारविहीन संस्कृत होने लगे, नास्तिक लोग आस्तिक बनने लगे, इस प्रकार आज आपके प्रभावसे आसेतु हिमाचल धर्मप्रवाह का संचार होरहा है।

आजके युगमे आचार्य महाराज अलौकिक महापुरुष है। जगद्वंद्य है। ससारके दुःखोसे भयभीत प्राणियोको तारने के लिये अकारणबंधु है। आचार्य महाराजके दिव्यविहार से ही आज प्राचीन सस्कृति यत्रतत्र दृष्टि गोचर हो रही है। आपके हृदयकी गंभीरता, अचलधीरता व शातिप्रियताको देखते हुए सचमुचमे आपके नामका सार्थक्य समझमे आता है। जिन्होने भक्तिपूर्वक आपका एक दफे दर्शन किया हो उनको आपकी महत्ताका परिज्ञान हुए विना नहीं रह सकता है। एकदफे आपके सामने कोई क्रूरहृदयी शत्रु भी क्यों न आवे, आपकी शातमुद्राको देखकर वह द्रवित हो जाता है। इतना ही क्यो बडेसे बडे क्रूर मृग, विषधर सर्प आदि भी शात हो जाते हैं। आपका माहात्म्य इसी से स्पष्ट है कि कई दफे प्राणकंटक उपसर्ग आनेपर भी उन से महाराज की सिंहवृत्तिमे कोई विराधना नहीं हो सकी। ऐसे प्रात स्मरणीय साधुवोके दर्शन, स्तवन व वैयावृत्यके लिये ही नहीं नामोच्चरण करनेके लिये भी पूर्वोपार्जित पुण्यकी आवश्यकता है। यह सर्वसाधारण के लिये सुगम नहीं है।

आचार्यश्रीके द्वारा अनेक संयमी साधु दीक्षित हुए हैं। **मुनिराज कुंथुसागरजी** महाराज उनमें से अन्यतम विद्वान् व प्रतिभाशाली संयमी हैं। आपने इससे पूर्व श्री चतुर्विंशतिजिनस्तुति, शांतिसागर चरित्र, व बोधामृतसार निजात्मशुद्धि भावना मोक्षमार्गप्रदीप आदि महत्वपूर्ण ग्रंथोंकी रचना की है। यह बोधामृतसारकी दूसरी आवृत्ति है।

ग्रन्थकर्ताका परिचय।

महर्षि कुंथुसागरजीने इस ग्रंथकी रचना की है। आप एक परम वीतरागी, प्रतिभाशाली, विद्वान् मुनिराज हैं।

आपकी जन्मभूमि कर्नाटक प्रांत है जिसे पूर्वमें कितने ही महर्षियोंने अलंकृत कर जैनधर्मका मुख उज्वल किया था।

कर्नाटक प्रांतके ऐश्वर्यभूत बेळगाव जिल्हेमें ऐनापुर नामक सुंदर ग्राम है। वहांपर चतुर्थकुलमें ललामभूत अत्यंत शांतस्वभाव वाले सातप्पा नामक श्रावकोत्तम रहते हैं। आपकी धर्मपत्नी साक्षात् सरस्वतीके समान सद्गुणसंपन्न थीं। इसलिये सरस्वतीके नामसे ही प्रसिद्ध थीं। सातप्पा व सरस्वती दोनों अत्यन्त प्रेम व उत्साहसे देवपूजा, गुरूपास्ति आदि सत्कार्यमें सदा मग्न रहते थे। धर्मकार्य को वे प्रधानकार्य समझते थे। उनके हृदय में आंतरिक धार्मिक श्रद्धा थी। श्रीमती सौ. सरस्वतीने संवत् १९५०में एक पुत्र रत्नको जन्म दिया। इस पुत्रका जन्म शुक्लपक्षकी द्वितीयाको हुआ, इसलिये शुक्लपक्षके चंद्रमाके समान दिनपर दिन अनेक कलावोंसे वृद्धिगत होने लगा है। मातापितावोंने पुत्रका जीवन सुसंस्कृत हो इस सुविचारसे जन्मसे ही आगमोक्त संस्कारोंसे संस्कृत किया। जातकर्मसंस्कार होनेके बाद शुभमुहूर्तमें नामकरण संस्कार किया गया जिसमें इस पुत्र का नाम रामचंद्र रखा गया। बादमें चौलकर्म, अक्षराभ्यास, पुस्तकग्रहण आदि संस्कारों से संस्कृत कर सद्विद्याका अध्ययन कराया। रामचंद्रके हृदय में बाल्यकालसे ही

विनय, शील व सदाचार आदि भाव जागृत हुए थे। जिसे देखकर लोग आश्चर्य व संतुष्ट होते थे। रामचंद्र को बाल्यावस्थामे ही साधु संयमियोंके दर्शनमे उत्कट इच्छा रहती थी। कोई साधु ऐनापुरमे आते तो यह बालक दौडकर उनकी वदनाके लिये पहुचता था। बाल्यकालसे ही इसके हृदयमे धर्मकी अभिरुचि थी। सदा अपने सहधर्मियोके साथमें तत्त्वचर्चा करनेमे ही समय इसका बीतता था। इस प्रकार सोलह वर्ष व्यतीत हुए। अब मातापितावोने रामचंद्रको विवाह करनेका विचार प्रकट किया। नैसर्गिक गुणसे प्रेरित होकर रामचंद्रने विवाहके लिये निषेध किया एव प्रार्थना की कि पिताजी! इस लौकिकविवाहसे मुझे संतोष नही होगा। मैं अलौकिक विवाह अर्थात् मुक्तिलक्ष्मीके साथ विवाह करलेना चाहता हूं। मातापितावोंने आग्रह किया कि पुत्र! तुम्हे लौकिक विवाह भी करके हम लोगोंकी आखोंको तृप्त करना चाहिये। मातापितावोकी आज्ञोल्लघनभयसे इच्छा न होते हुए भी रामचद्रने विवाहकी स्वीकृति दी। मातापितावोंने विवाह किया। रामचंद्रको अनुभव होता था कि मै विवाह कर बडे बंधन में पड गया हूं।

विशेष विषय यह है कि, बाल्यकालसे संस्कारोंसे सुदृढ होनेके कारण यौवनावस्थामें भी रामचंद्रको कोई व्यसन नहीं था। व्यसन था तो केवल धर्मचर्चा, सत्संगति व शास्त्रस्वाध्याय का था। बाकी व्यसन तो उससे घबराकर दूर भागते थे। इस प्रकार पच्चीस वर्ष पर्यंत रामचद्रने किसी तरह घरमे वास किया, परतु बीच २ में मनमे यह भावना जागृत होती थी कि, भगवन्! मैं इस गृहबधनसे कब छूटूं, जिनदीक्षा लेनेका भाग्य कब मिलेगा? वह दिन कब मिलेगा जब कि सर्वसंगपरित्याग कर, मै स्वपरकल्याण कर सकूं।

रामचंद्रके श्वसुर भी धनिक थे। उनके पास बहुत सपत्ति थी। परतु उनको कोई सतान नही। वे रामचंद्रसे कई दफे कहते थे कि यह संपत्ति घर वगैरे तुम ही लेलो। मेरे यहाके सब कारोभार तुम ही चलावो। परंतु रामचंद्र उन्हें दुःख न हो इस विचारसे कुछ दिन रहा भी। परतु मन मनमे यह विचार किया करता था मै अपना भी घरदार छोडना चाहता हूं। इनकी संपत्ति को लेकर मैं क्या करू। रामचंद्र

की इस प्रकारकी वृत्तिसे श्वसुरको दु.ख होता था। परंतु रामचंद्र लाचार था। जब उसने सर्वथा गृहत्याग करनेका निश्चय ही करलिया तो उनके श्वसुर को बहुत अधिक दु.ख हुआ।

दैववशात् इस बीचमे मातापितावोंका स्वर्गवास हुआ। विकराल कालकी कृपासे एक भाई और बहनने विदाई ली। अब रामचंद्र का चित्त और भी उदास हुआ। उसका बंधन छूट गया। अब संसारकी अस्थिरताका उन्होंने स्वानुभवसे पक्का निश्चय किया और उसका चित्त और भी धर्ममार्गपर स्थिर हुआ।

इतने मे भाग्योदयसे ऐनापुरमे प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद आचार्य शांतिसागर महाराजका पदार्पण हुआ वीतरागी तपोधन मुनिको देखकर रामचंद्रके चित्तमे संसारभोगसे विरक्ति उत्पन्न होगई। प्राप्त सत्समागमको खोना उचित नहीं समझकर उन्होंने श्रीआचार्यचरणमें आजन्म ब्रह्मचर्यव्रतको ग्रहण किया।

सन् १९२५ फरवरी महीनेकी बात है। श्रवणबेलगोल महाक्षेत्रमें श्री बाहुबलिस्वामीका महामस्तकाभिषेक था। इस महाभिषेकके समाचार पाकर ब्रह्मचारिजीने वहा जानेकी इच्छा की। श्रवणबेलगुल जानेके पहिले अपने पास जो कुछ भी संपत्ति थी उसे दानधर्म आदि कर उसका सदुपयोग किया। अब श्रवणबेलगुल मे आचार्य शांतिसागर महाराजसे क्षुल्लक दीक्षा ली। उस समय आपका शुभनाम क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति रखा गया। ध्यान अध्ययनादि कार्योंमें अपने चित्तको लगाते हुए अपने चारित्र मे आपने वृद्धि की व आचार्यचरणमे ही रहने लगे।

चार वर्ष बाद आचार्यपादका चातुर्मास कुंभोज (बाहुबलि पहाड) में हुआ। उस समय आचार्य महाराजने क्षुल्लकजीके चारित्रकी निर्मलता देखकर उन्हे ऐलक जो कि श्रावकपदमें उत्तम स्थान है, उससे दीक्षित किया।

बाहुबलि पहाडपर एक खास बात यह हुई कि संघभक्तशिरोमणि सेठ पूनमचंद घासीलालजी आचार्यवंदनाके लिये आये। और महाराजके चरणोमे प्रार्थना की कि, मै सम्मेदशिखरजी के लिये संघ

निकालना चाहता हूं। आप अपने संघसहित पधारकर हमें सेवा करनेका अवसर दें। आचार्य महाराजने संघभक्तशिरोमणिजीकी विनतिको प्रसादपूर्ण दृष्टिसे सम्मति दी। शुभमुहूर्तमें संघने तीर्थराज की वंदनाके लिये प्रस्थान किया। ऐलक पार्श्वकीर्तिने भी संघके साथ श्रीतीर्थराजकी वंदनाके लिये विहार किया। सम्मेद शिखरपर संघके पहुंचनेके बाद वहांपर विराट् उत्सव हुआ। महासभा व शान्तिपरिषद् के अधिवेशन हुए। यह उत्सव अभूतपूर्व था। स्थावर तीर्थोंके साथ, जंगम तीर्थोंका वहांपर एकत्र संगम हुआ था।

संघने अनेक स्थानोंमें धर्मचर्चा करते हुए कटनीके चातुर्मास को व्यतीत किया। बादमें दूसरे वर्ष संघका पदार्पण चातुर्मासके लिये ललितपुरमें हुआ। यों तो आचार्यमहाराजके संघमें सदा ध्यान अध्ययनके सिवाय साधुवोंकी दूसरी कोई दिनचर्या ही नहीं है। परंतु ललितपुर चातुर्माससे नियमपूर्वक अध्ययन प्रारंभ हुआ। संघमें क्षुल्लक ज्ञानसागरजी जो आज मुनिराज सुधर्मसागरजी के नामसे प्रसिद्ध हैं, विद्वान् व आदर्श साधु थे। उनसे प्रत्येक साधु अध्ययन करते थे। इस ग्रंथके कर्ता श्री ऐलक पार्श्वकीर्तिने भी उन से व्याकरण, सिद्धांत व न्यायको अध्ययन करने के लिये प्रारंभ किया।

आपको तत्वपरिज्ञान में पहिले से अभिरुचि, स्वाभाविक बुद्धितेज, सतत अध्ययन में लगन, उसमें भी ऐसे विद्वान् संयमी विद्यागुरुवोंका समागम, फिर कहना ही क्या? आप बहुत जल्दी निष्णात विद्वान् हुए। इस बीच में सोनागिर सिद्धक्षेत्रमें आपको श्रीआचार्यमहाराजने दिगंबर दीक्षा दी उस समय आपको मुनि कुंथुसागरके नामसे अलंकृत किया। आपके चारित्रमें वृद्धि होनेके बाद ज्ञानमें भी नैर्मल्य बढ गया। ललितपुर चतुर्मास से लेकर ईडरके चातुर्मासपर्यंत आप बराबर अध्ययन करते रहे। आज आप कितने ऊंचे दर्जे के विद्वान् बन गये हैं यह लिखना हास्यास्पद होगा। आपकी विद्वत्ता इसी से स्पष्ट है कि अब आप संस्कृत में ग्रंथका भी निर्माण करने लग गये हैं। कितने ही वर्ष अध्ययन कर बड़ी २ उपाधियोंसे

विभूषित विद्वानोको भी हम आप से तुलना नही कर सकते। क्यों कि आपमे केवल ज्ञान ही नही है अपितु चारित्र जो कि ज्ञानका फल है वह पूर्ण अधिकृत होकर आपमे विद्यमान है ।

इसलिये आपमे स्वपरकल्याणकारी निर्मल ज्ञान होनेके कारण आप सर्वजनपूज्य हुए है । आपकी जिसप्रकार ग्रंथरचनाकलामें विशेष गति है. उसी प्रकार वक्तृत्वकलामे भी आपको पूर्ण अधिकार है । श्रोतावोके हृदयको आकर्षक करनेका प्रकार, वस्तुस्थितिको निरूपण कर भव्योंको संसारसे तिरस्कारविचार उत्पन्न करनेका प्रकार आपको अच्छी तरह अवगत है। आपके गुण, संयम आदियोंको देखनेपर यह कहे हुए विना नही रहसकते कि आचार्य शांतिसागरमहाराजने आपका नाम कुंथुसागर वहुत सोच समझकर रखा है ।

आपने अपनी क्षुल्लक व ऐल्लक अवस्थामे अपनी प्रतिभासे वहुत ही अधिक धर्मप्रभावना के कार्य किये है । संस्कारों के प्रचार के लिये सतत उद्योग किया है। करीव तीन चार लाख व्यक्तियोंको आपने यज्ञोपवीतसंस्कारसे संस्कृत किया है। एवं लाखों लोगोंके हृदयमे मद्य, मास, मधुकी हेयताको जंचाकर त्याग कराया है । हजारोंको मिथ्यात्वसे हटाकर सम्यग्मार्गमें प्रवृत्ति कराया हैं। मुनि अवस्थामे उत्तरप्रातके अनेक स्थानोमे विहार कर धर्मकी जागृति की है । गुजरात प्रात जो कि चारित्र व संयमकी दृष्टिसे वहुत ही पीछे पडा था, उस प्रातमे छोटेसे छोटे गांवमें विहार कर, लोगोंकोधर्ममे स्थिर किया है । गुजरातके जैन व जैनेतरोंके मुखसे आपके लिए आज यह उद्गार निकलता है कि "साधु हो तो ऐसे ही हों" ।

महाराजने अपने दिव्यविहार द्वारा गुजरातके हृदयपर किसप्रकार अधिकार प्राप्त किया है यह हाल के आये हुए एक पत्रके उद्गार से स्पष्ट होता है, इसलिये हम उस पत्रको नीचे उध्दृत कर देते है ।

આપ સુરવે સ્રધની સુખાકારી ચાહીયે છીએ. આપ ધર્મરૂપી અમૃતના વરસાદ વરસાવતા વરસાવતા શ્રી૦ તારગાજી સિદ્ધક્ષેત્ર પર પહુચા છો. આપ શ્રીમાનનુ સ્વાસ્થ્ય સદૈવ સારૂ રહે તેમ ઇચ્છુ છું. આપે જે ધર્મામૃતથી હમારા ગુજરાતના વતનીઓના મન હરણ કરી લીધા છો. એજ આપના મહાન વિધાનો

પ્રભાવ છે. આપના ચારિત્રનીછાપ એટલી બધી ઉંડી પડી છે કે આપ ગમે ત્યાં હોય છતા આપ શ્રીમાન શ્રીમાનની મૂર્તીના પરોક્ષ દર્શન દરરોજ થયા કરેછે અને આપની સેવામાં હર હમેશ હાજર રહી એવી અંતરની ઉર્મીઓ ઉછલી રહીછે. આપના દર્શનનો વચનામૃતનો લાભ મળવો ચિંતામણી મળવા બરોબર છે એક વખત જેમાણે આપના સત્સંગનો લાભ લીધો તે આત્માનુ જરૂર કલ્યાણજ થાય છે. કારણ, આપના પરમગાતીની છાપ તેમના હૃદય ઉપર સરસ પડેછે. આપની ત્યાગવૃત્તીથી પણ જનસમૂહના ઉપર પ્રભાવ વિશેષ પડે છે આપ જે વીતરાગનો માર્ગ પકડી ભવ્યજીવોને સર્વોથી કલ્યાણનો માર્ગ ચોકળો કર્યો છો તે પ્રશંસનીય છે ઘણાં ટાઇમથી ગાઢ અંધકારમા પડી રહેલ ગુજરાતને આપે ધર્મદિવાકર ખરેખર દિવાકર બની ગુજરાતને ગાઢ નિદ્રામાથી અગર મિથ્યાત્વથી જાગતો કર્યો છો. હાલ ખરેખર હમારે તો આપ અર્હંત પરમેશ્વરના તુલ્ય જણાય છો. આપના વચનો જ્યારે જ્યારે યાદ આવે છે ત્યારે ત્યારે આપ પ્રત્યેનો પ્રેમ, સેવા, ભકતી, ઉભરાય છે. આપના દર્શનની, વચનામૃતની ઘણી અભીલાષા છે. ખનત્તા સુધી આપની સેવાનો લાભ લેવા થોડા ટાઇમમાહુ આવીશ. બાકી ગામના દરેક ભાઈ બેહનો દરબાર સાહેબ, બીજાએ દરેક આપને યાદ કરેછે ને નમોસ્તુ સહર્ષ કેહવરાવે છે. આપ ધર્મામૃતથી અનેક જીવોને સન્માર્ગે લગાડીને ઉપકાર કરી રહ્યા છો. તેને માટે હુ તથા મારો સરવે બંધુઓ પૂર્ણ આભારી ને ઋણી છીયે. આપના ગુણગાનનાશા વર્ણન કરીએ આપના આગળ બોલવુ લખવુ એ દિવસે દીવો કરવા જેઉ છે. કારણ આપ ખરેખર શાતપરીણામી, અને તપોધન. ધર્મમૂર્તી છો. માટે જેમ દિવાકરને શુ ઉપમા આપીયે ? તેમ આપપણ અનુપમ છો.

इसी प्रकार बडे २ राजा महाराजावोंपर भी आपके उपदेश का गहरा प्रभाव पडता है । बहुतसे राजावोंने आपके उपदेशसे प्रेरित होकर अपने राज्यमें अहिंसा दिन पालनेकी प्रतिज्ञा ली है । गुजरातमे बडे२ राजा महाराजावोंके द्वारा आपका स्वागत हुआ और हो रहा है। आपके द्वारा अभूतपूर्व धर्मप्रभावना होरही है। यह आपका संक्षिप्त परिचय है । पूर्णतः लिखनेपर स्वतंत्र पुस्तक ही बन सकती है ।

वर्णनशैली ।

महर्षिने इस ग्रथके निर्माण करनेमें इतने सरल शब्दोंकी योजना की है कि प्रवेशिकामें पढनेवाले
छात्र भी उसे अच्छीतरह समझ सकेंगे। ग्रंथके सरल होनेसे उसका उपयाग व प्रचार भी अधिक रूपसे
होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि समाजके सर्व श्रेणीके सज्जन जिनके हृदयमें गुरुवोंके प्रति आस्था है
इसका स्वाध्याय कर पुण्य संचय करेंगे। हमारे ख्यालसे सरल रचनामें ग्रथकर्ताने यही उद्देश रखा होगा।
इतनी मृदुरचना होनेपर भी हिंदी अनुवाद दिया गया है यह सोनेमें सुगंध होगया है।

ग्रंथ विषय

ग्रंथका विषय ग्रथके नामसे ही स्पष्ट है। इस ग्रंथका नाम बोधामृतसार महर्षिने बहुत ही विचार
पूर्वक रक्खा है। इसके अंदर वर्णित विषय कितने सरल, आवश्यक, उपयुक्त व बोधप्रद है इसे अलग
वर्णन करनेकी जरूरत नहीं। यह तो पाठक इसके पठन करते समय स्वयं ही अनुभव करेंगे। परंतु हम
इस संबंधमे महर्षिके ही वाक्यमें इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि—

ग्रंथं ह्यमु वांछितदं सदैव, स्मरंति गायंति पठंति भक्त्या।
शृण्वंति वांच्छंति नमंति यांति त एव भव्या भुविसारसौख्यं॥

अर्थात् जो भव्य कामितफल देनेवाले इस ग्रंथको सदा स्मरण करते हैं गाते हैं पढते हैं
भक्तिसे सुनते है सुननेकी इच्छा करते हैं, नमस्कार करते हैं वे लोकमें उत्तम सुखको प्राप्त करते हैं। हम
यह निःसंकोच कह सकते हैं कि जो इस ग्रंथका भक्तिसे अध्ययन करेंगे वे जैन सिद्धातके मर्मज्ञ अनेक
विषयोंके ज्ञाता विद्वान् बन सकते हैं।

अनुवादक।

इस ग्रंथका अनुवाद धर्मरत्न पं. लालारामजी शास्त्रीने किया है। साहित्य संसारमें आपका परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं है। आपने अनेक ग्रंथोंका अनुवाद व निर्माण किया है। साहित्यक्षेत्रमें आपके द्वारा जो उपकार हुआ है उस के लिये जैन समाज आपका चिरकृतज्ञ रहेगा।

प्रकाशमें सहायता.

इस ग्रंथकी महत्ताके संबंधमें विशेष कुछ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। उसके लिये इतना शीघ्र उसके द्वितीयावृत्तिका प्रकाशन ही साक्षी है। इस द्वितीयावृत्तिके प्रकाशनमें अनेक धर्मात्मावोंने सहायता दी है। जिनमें निम्न लिखित सज्जनोंका नाम उल्लेखनीय है।

१२५) कोटडिया कचराबाई मोतीचद, २५) शा छत्राभाई सखमलदास, २५) शा रेवचंद रायचंद, २५) केशवलाल मगनलाल, २५ शा. नानचंद रायचद, २५) शा. केशवलाल माणिकचद, २५) मगनलाल कस्तूरचंद, ११) शा. मोहनलाल मगनलाल, ११) चुनीलाल कालिदास, ५) छगनलाल नथुदास, ५) शा. छगनलाल फतेचद, ५) सोनी मगनलाल हरीभाई इस प्रकार इन सज्जनोंने आर्थिक सहायता दी है।

खासकर धर्मनिष्ठ **शा. मोहनलाल मगनलाल को** हम इस लिये भूल नहीं सकते इस के प्रकाशनमे उनका विशेष सहयोग रहा। आप गुरुभक्त व धर्मप्रेमी सज्जन है। सदा देवपूजादि षट्कर्मोंमें सतर्क रहते है एव साधुसंतो के वैयावृत्य में संलग्न रहते है। आपका धर्म व साहित्यप्रेम प्रसंशनीय है।

मुनिराज पूज्य कुंथुसागर महाराज के इस पारमार्थिक उपकार के लिये हम उन के चरणोंमें श्रद्धांजलि अर्पण करते है। इति

चरण सेवक,

सोलापुर, ता.-१।१।१९३९.

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री,(विद्यावाचस्पति)



तपोधन श्री १०८ मुनिराज कुंथुसागरजी महाराज.

[ग्रंथकर्ता]

वीतराग तपोमूर्ति दिगम्बर जैनाचार्य

श्री १०८ आचार्य शिरोमणि शांतिसागरजी महाराज.



संसारसिन्धुपरिलङ्घनमुख्यवीरं स्वानन्दसिन्धुपयसि प्रविलीनमेनम् ।
स्वर्मोक्षमार्गनिरत मुनिवृन्दवन्द्य भीमे कलावपि नृपोरगवृन्दपूज्य ॥
दुःखे सुखेऽप्यनुपमं स्वरसं पिबन्त स्वाचारसाररसिकं परम पवित्र ।
आचार्यशांतिजलधिं नमतीति भक्त्या श्रीकुंथुसागरमुनिस्तव मुख्यदासः ॥

विषय सूची

दूसरा अधिकार.

तीसरा अधिकार

चौथा अधिकार



। श्रीवीतरागाय नमः ।

मुनिराज श्रीकुंथुसागरविरचितः

बोधामृतसारः ।



हिंदीभाषाटीकासहितः ।

स्वराज्यकर्त्रे शिवसौख्यभोक्त्रे । मोक्षप्रदात्रे भववीजहर्त्रे ॥
वीराय भव्याम्बुजभास्कराय । स्वसौख्यलाभाय नमोस्तु तुभ्यं ॥१॥

जो भगवान वीरनाथ स्वामी अपने आत्माके स्वतंत्र राज्यको करनेवाले हैं मोक्षसुखको भोगनेवाले हैं मोक्षको देनेवाले हैं संसारके कारणोंको हरण करनेवाले हैं और भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिए सूर्यके समान हैं ऐसे भगवान् वर्द्धमानस्वामीको उनके सुख प्राप्त करनेके लिए मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥

वंदित्वा श्रीजिनान् सिद्धान् । सूरीन् साधूंश्च पाठकान् ॥
वक्ष्ये बोधामृतं सारं । भव्यानां बोधहेतवे ॥२॥

मैं अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार करके भव्यजीवोंको सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेके लिए बोधामृतसार नामका ग्रंथ कहता हूं ॥२॥

देवश्च कीदृशस्त्याज्यः । धर्मो धर्मगुरुस्तथा ॥
शास्त्र च पंडित कीदृक् । त्याज्यः शास्त्री च कीदृशः ॥

प्रश्न.—कैसा देव त्याग करने योग्य है ? धर्म और धर्मगुरु भी कैसा त्याग करने योग्य है ? कैसा शास्त्र त्याग करने योग्य है ? कैसा पंडित त्याग करने योग्य है ? और कैसा शास्त्री त्याग करने योग्य है ॥

देवो हि चाष्टादशदोषयुक्त- । स्त्याज्यो दयाभीरहितश्च धर्मः ।
रत्नैस्त्रिभिः सौख्यमयैश्च रिक्त- ॥ स्त्याज्यो गुरुस्तत्त्वविचारशून्यः ॥ ३ ॥
एकान्तपक्षे भुवि दूषितं हि । त्याज्यं च शास्त्रं जिनमार्गबाह्यम् ॥
त्याज्योस्ति विद्वानपि धर्मशून्यः । श्रीमान् हि शास्त्री परमार्थशून्यः ॥४॥

उत्तरः— जिसमे भूख प्यास जन्ममरण आदि अठारह दोष विद्यमान हैं ऐसा देव त्याग करने योग्य है, जो धर्म दयासे रहित है वह भी त्याग करने योग्य है और सुखमय रत्नत्रयसे रहित है तथा तत्त्वोंके विचार करनेमे शून्य है ऐसा गुरु भी त्याग करने योग्य है।

जिस प्रकार दूधके विना गायकी शोभा नहीं है, शीलके विना स्त्री पुरुषकी शोभा नहीं है श्रेष्ठ फलोंके विना लता और वृक्षोंकी शोभा नहीं है तथा प्रेमके विना मित्र और बांधवों की शोभा नहीं है ॥ ९ ॥

पक्षेण हीनो न च भाति पक्षी। पुत्रेण हीना न च भाति राज्ञी।

अन्नं च खाद्यं लवणेन हीनं। कण्ठेन हीनं न च भाति गीतम् ॥ १० ॥

जिसप्रकार पंखों के विना पक्षियोंकी शोभा नहीं है, पुत्रके विना रानीकी शोभा नहीं है, नमकके विना अन्न वा खाद्य पदार्थोंकी शोभा नहीं है और कंठके (मधुर कंठके) विना गीतकी शोभा नहीं है ॥

न भाति लोके मतिहीनमंत्री। देवेन हीनं न च चैत्यधाम ॥

योगेन हीनो न च भाति योगी। हस्तेन हीनं न च भाति शस्त्रम् ॥११॥

जिसप्रकार इस संसारमें विना तीव्रबुद्धिके मंत्री शोभा नहीं देता, विना देवके देवालय शोभा नहीं देता, विना योग वा ध्यानके योगी शोभा नहीं देता और विना हाथके शस्त्र शोभा नहीं देता ॥११॥

नेत्रेण हीनं वदनं न भाति। सत्येन हीना न च भाति वाणी ॥

अन्नं च खाद्यं रहितं घृतेन। दन्तेन हीनो न गजो विभाति ॥१२॥

निपुणास्सन्ति लोकेऽस्मिन् । के नरा भो गुरो वद ॥

प्रश्न—हे गुरो! आप कहिए कि इस संसारमें चतुर कौन है ?

स एव धीमान्निपुणोपि दानी । ज्ञानी च साधुः सुखशांतिभोगी ॥
यो मोहजालं प्रविहाय शीघ्रं । स्थातुं स्वधर्मे यतते सदैव ॥७॥

उत्तर— जो मनुष्य मोहजालको छोडकर शीघ्र ही अपने आत्मधर्ममें स्थिर होनेके लिए सदा प्रयत्न करते रहते हैं इस संसारमें वे ही बुद्धिमान है, वे ही निपुण हैं, वे ही दानी हैं, वे ही ज्ञानी हैं, वे ही साधु हैं और वे ही सुख और शांतिको भोगनेवाले हैं ॥७॥

धर्मेण हीना शोभन्ते । नरा वा न कचित्कदा ॥

प्रश्न—जो मनुष्य धर्मरहित हैं वे कभी किसी जगह शोभायमान होते हैं या नहीं ?

यथा सरो भाति न पद्महीनं । तोयेन हीना न नदी न वापी ॥
जीवेन हीनं न वपुर्विभाति । गन्धेन हीनं कुसुमं न तैलम् ॥८॥

उत्तरः—जिस प्रकार कमलोंसे रहित सरोवर सुशोभित नहीं होता, विना पानीके नदी और बावडी सुशोभित नहीं होती, विना जीवके शरीर सुशोभित नहीं होता और विना सुगंधके पुष्प वा तेल सुशोभित नहीं होता ॥ ८ ॥

दुग्धेन हीना न च भाति धेनुः । शीलेन हीनो न नरो न नारी ॥
लता न वृक्षः सुफलेन हीनः । स्नेहेन हीनो न सखा न बंधुः ॥ ९ ॥

जिस प्रकार दूधके विना गायकी शोभा नहीं है, शीलके विना स्त्री पुरुषकी शोभा नहीं है श्रेष्ठ फलोंके विना लता और वृक्षोंकी शोभा नहीं है तथा प्रेमके विना मित्र और बांधवों की शोभा नहीं है ॥ ९ ॥

पक्षेण हीनो न च भाति पक्षी। पुत्रेण हीना न च भाति राज्ञी ।
अन्नं च खाद्यं लवणेन हीनं। कण्ठेन हीनं न च भाति गीतम् ॥ १० ॥

जिसप्रकार पंखों के विना पक्षियोंकी शोभा नहीं है, पुत्रके विना रानीकी शोभा नहीं है, नमकके विना अन्न वा खाद्य पदार्थोंकी शोभा नहीं है और कंठके (मधुर कंठके) विना गीतकी शोभा नहीं है ॥

न भाति लोके मतिहीनमंत्री। देवेन हीनं न च चैत्यधाम ॥
योगेन हीनो न च भाति योगी। हस्तेन हीनं न च भाति शस्त्रम् ॥११॥

जिसप्रकार इस संसारमें विना तीव्रबुद्धिके मंत्री शोभा नहीं देता, विना देवके देवालय शोभा नहीं देता, विना योग वा ध्यानके योगी शोभा नहीं देता और विना हाथके शस्त्र शोभा नहीं देता ॥११॥

नेत्रेण हीनं वदनं न भाति। सत्येन हीना न च भाति वाणी ॥
अन्नं च खाद्यं रहितं घृतेन । दन्तेन हीनो न गजो विभाति ॥१२॥

जिसप्रकार विना नेत्रोंके मुखकी शोभा नहीं होती, विना सत्यताके वचनोंकी शोभा नहीं होती, विना घीके खाने योग्य अन्नकी शोभा नहीं होती और विना दांतोंके हाथीकी शोभा नहीं होती ॥१२॥

हीनं च शास्त्रं न हि चाक्षरेण । मह्या हि हीना न च भाति छाया ॥
न भाति लोके गुरुहीनाशिष्यो । हीनः सभाभिर्न च भाति धीमान् ॥१३॥

जिस प्रकार विना पूर्ण अक्षरोंके शास्त्र शोभायमान नहीं होते, विना पृथ्वीके छाया शोभा नहीं देती, इस लोकमें विना गुरुके शिष्य सुशोभित नहीं होता और विना सभाके बुद्धिमान् की शोभा नहीं बढती ॥ १३ ॥

चन्द्रेण हीना न च भाति रात्रिः । स्वात्मानुभूत्या रहितश्च साधुः ॥
नीत्या विहीनो न च भाति राजा । न भाति शूरोपि विवेकशून्यः ॥१४॥

जिस प्रकार चन्द्रमाके विना रात्रिकी शोभा नहीं होती स्वात्मानुभूति अर्थात् अपने शुद्ध आत्माके अनुभवके विना साधुकी शोभा नहीं होती. नीतिके विना राजा शोभायमान नहीं होता, और शूर वीर, विना विवेकके शोभायमान नहीं होता ॥ १४ ॥

वृष्ट्यादिहीना न च भाति पृथ्वी। पूजादिहीनो न गृही विभाति ॥
परोपकारै रहितो न जीवो । दानेन हीनो धनवान्न भाति ॥ १५ ॥

जिस प्रकार विना जलवृष्टिके पृथ्वीकी शोभा नहीं बढती विना पूजा स्वाध्यायके गृहस्थ श्रावक सुशोभित नहीं होता, परोपकारके विना मनुष्यकी शोभा नहीं होती और विना दानके धनवानकी शोभा नहीं होती ॥ १५ ॥

शान्त्या विहीनो न जपस्तपोपि । व्रतोपवासोपि न भाति लोके ॥
सूर्येण हीनं न दिनं विभाति चारित्रहीनो न च भाति साधुः । १६

जिस प्रकार विना शांतिके इस लोकमें जप तप व्रत और उपवास आदि कुछ शोभा नहीं देते, विना सूर्यके दिनकी शोभा नहीं होती और विना सम्यक् चारित्र धारण किये साधुकी शोभा नहीं होती ॥१६ ॥

जातिः कुलं भाति धनेन हीनं । न भाति हीनो दयया व्रती च ॥
न भाति जीवः कुलजातिहीनः । सुपुत्रहीनं न गृहं विभाति ॥ १७ ॥

जिसप्रकार विना धनके जाति और कुलकी शोभा नहीं होती, विना दयाके व्रतीकी शोभा नहीं होती, विना श्रेष्ठ कुल और श्रेष्ठ जातिके जीवकी शोभा नहीं होती और विना सुपुत्रके घरकी शोभा नहीं होती ॥ १७ ॥

श्रेष्ठोपि पुत्रः कुलजातिधर्मान्मातुः पितुर्यः प्रतिकूलवर्ती ॥
श्रेष्ठापि भार्या पतिभक्तिहीना । न भाति शिष्यो गुरुभक्तिहीनः ॥१८॥

जिस प्रकार कुल जाति और धर्मसे श्रेष्ठ होने पर भी माता पिताके प्रतिकूल रहनेवाला पुत्र सुशोभित नहीं होता तथा पतिकी भक्ति न करने वाली श्रेष्ठ भार्या भी सुशोभित नहीं होती और गुरुकी भक्ति के विना शिष्यकी शोभा नहीं होती ॥ १८ ॥

तथैव लोके जिनधर्महीनो । न भाति जीवो न च तस्य बुद्धिः ॥
क्रियाकलापोपि न भाति शौर्यं । भक्तिर्न शक्तिर्न नृजन्मरत्नम् ॥१९॥

उसी प्रकार इस संसार मे विना जिनधर्मके न तो इस जीवकी शोभा होती है न उसकी बुद्धीकी शोभा बढती है न उसका क्रियाकांड सुशोभित होता है न उसकी शूर वीरता सुशोभित होती है न उसकी भक्ति सुशोभित होती है, न उसकी शक्ति सुशोभित होती है और विना जिनधर्मके न उसका मनुष्य—जन्मरूपीरत्न सुशोभित होता है ॥ १९ ॥

ज्ञात्वेति कुर्वन्तु सदैव धर्मं । भव्यः प्रमोहं प्रविहाय शीघ्रम् ॥
प्राणेषु कौ सत्सु गतेषु केपि । जीवा भवेयुर्न च धर्महीनाः ॥ २० ॥

यही समझकर भव्य जीवोको शीघ्र ही अपना मोह छोडकर सदाकाल धर्म धारण करते रहना चाहिए । इस संसारमे प्राणोका नाश होने पर भी जीवको कभी भी धर्मरहित नहीं होना चाहिए ॥ २० ॥

कानि धर्मस्य चिन्हानि । लोकेस्मिन् त्रिजद्गुरो ॥

प्रश्न.—हे तीनो लोकोंके गुरु ! इस संसारमे धर्मके कौन कौन चिन्ह है ?

धर्मस्य चिन्हं प्रतिपाद्यते हि । क्षमादिवर्गं च तपो जपोपि ॥
व्रतोपवासो यजनं सुदानं । शान्तिः सुशीलं समता दया हि ॥२१॥
धर्मो ह्यहिंसा ह्यनृतं ह्यचौर्यं । त्यागो ह्यसंगो मिथुनस्य लोके ॥
निजात्मधर्मे स्वपदे स्थिरत्वं । ध्यानं प्रभो र्वा स्वरसस्य पानम् ॥२२॥

उत्तर —हे शिष्य ! अब मैं धर्मके चिन्होंको कहता हूं, तू सुन । उत्तम क्षमा आदि दशधर्मोंका समूह ही धर्म है, तपश्चरण करना धर्म है, जप करना धर्म है, व्रत उपवास करना धर्म है, देवपूजा करना, दान देना परिणामोंको शांत रखना, शील पालन करना, समता धारण करना, दया पालन करना, अहिंसा पालन करना, सत्यभाषण करना, अचौर्यव्रत धारण करना, परिग्रहोंका त्याग करना और मैथुन वा अब्रह्मका त्याग करना धर्म है । इसी-प्रकार अपने आत्म धर्ममें लीन होना अपने स्वात्मस्वरूपमें स्थिर रहना भगवान् जिनेंद्रदेवका ध्यान करना और अपने आत्मरस का सदा पान करते रहना धर्म है । भावार्थ ये सब धर्मके चिन्ह हैं ॥२१॥२२॥

धर्मात्किं प्राप्यते लोके । परलोकेऽपि किं गुरो ॥

प्रश्न.—हे गुरो ! धर्मके प्रभावसे इस लोकमे क्या मिलता है और परलोकमें क्या मिलता है ?

धर्मेण बंधुः सुगुरुः पितापि । मित्रं सुपुत्रो भगिनी च भार्या ॥
अन्यैरलभ्या भुवि सारभूता । साम्राज्यलक्ष्मीर्भवति स्वदासी ॥२३॥

धर्मप्रसादात्सकलाश्च जीवाः। स्वराज्यलक्ष्मीं क्रमतश्च लब्ध्वा ॥
संसारकूपाब्धि तरन्ति शीघ्रं। धर्मस्य लोके महिमा ह्यचिन्त्यः ॥ २४ ॥

उत्तरः—इस संसार में धर्म के प्रसाद से श्रेष्ठ बंधु प्राप्त होते हैं श्रेष्ठ गुरु प्राप्त होते हैं। पिता, पुत्र, मित्र भगिनी स्त्री आदि सब कुटुंब वर्ग प्राप्त होता है। जो अन्य जीवों को न मिल सकें ऐसे इस संसार के सारभूत समस्त पदार्थ प्राप्त होते हैं और धर्म के ही प्रसाद से समस्तजीव अनुक्रम से स्वराज्य लक्ष्मी का अनुभव करते हुए इस संसार सागर से बहुत शीघ्र पार हो जाते हैं। अतएव कहना चाहिए कि इस संसार में धर्म की महिमा अचिंतनीय है ॥ २३ ॥ २४ ॥

दुःखहर्ता च को लोके। के वा सन्ति न भो गुरो ॥

प्रश्न—हे गुरो! इस संसारमे दुःख हरण करनेवाला कौन है और कौन नहीं है ?

पिता न माता भगिनी न भार्या। पुत्रो न मित्रं न च कोपि बंधुः ॥
स्वामी न भृत्यो न च कापि देवी। देवो न दैत्यो न च कोपि वैद्यः ॥२५॥
राजा न राज्यं न च कामधेनु। श्चिन्तामणिर्वा न च कल्पवृक्षः।
मंत्री न मंत्रो हि विहाय धर्मं। दुःखस्य हर्ता सुखशांतिदाता ॥ २६ ॥

उत्तर — इस संसारमे पिता, माता, भगिनी, स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई, स्वामी, सेवक, देव, देवी, दैत्य, वैद्य, राजा, राज्य, कामधेनु, चिंतामणि, कल्पवृक्ष मंत्र और मंत्री आदि

कोई भी दूर नहीं कर सकता एक धर्म ही दुःखोंको दूर करने वाला है। धर्मके सिवाय दुःखोंको दूर करनेवाला और सुख शांति देने वाला अन्य कोई नहीं है ॥ २५ ॥ २६ ॥

को वा मनोज्ञो गुणवान्। सर्वशोभां बिभर्ति यः ॥

प्रश्न—ऐसा कौन है जो मनोज्ञ हो, गुणवान हो और सब तरहकी शोभाको धारण करता हो?

स नो मनोज्ञः स विभुः स वीरः। श्रीमान् स दानी बलवान् स धीरः ॥
ज्ञानी स योग्यो विमलः स राजा। भक्त्या सदा यश्च करोति धर्मम् ॥२७॥

उत्तरः—जो पुरुष भक्ति पूर्वक सदा धर्म को धारण करता है वही पुरुष इस संसार में मनोज्ञ कहलाता है, वही स्वामी कहलाता है, वही वीर और श्रीमान् कहलाता है, वही दानी और बलवान् कहलाता है, वही धीर वीर कहलाता है, वही ज्ञानी कहलाता है, वही योग्य कहलाता है, वही निर्मल कहलाता है और वही राजा वा सब का स्वामी कहलाता है ॥२७॥

ज्ञानहीना नरा लोके। शोभन्ते वा न वा क्वचित् ॥

प्रश्न—हे गुरो! क्या ज्ञानहीन मनुष्य कहीं शोभा देते हैं वा नहीं?

वस्त्रादिमाल्यैः परमैः सुलिंगैः। सुसंस्कृतानां च नृणां मुनीनाम् ॥
सुज्ञानहीनं न च भाति रूपं। वचोपि तेषां न वपु र्न जन्म ॥ २८॥

उत्तरः—जो मनुष्य वस्त्राभूषण वा माला आदिसे सुशोभित हैं अथवा जो मुनिश्रेष्ठ जिनलिंगसे सुशोभित हैं ऐसे मुनि वा मनुष्योंका स्वरूप सम्यग्ज्ञानके विना कभी शोभा

नहीं देता। इतना ही नहीं किंतु सम्यग्ज्ञानके विना न तो उनके वचन शोभा देते हैं न उनका शरीर शोभा देता है और न उनका जन्म सुशोभित होता है ॥२८॥

सम्यग्दर्शनमाहात्म्य। कृपां कृत्वा गुरो वद ॥

प्रश्नः—हे गुरो! कृपा करके सम्यग्दर्शनका माहात्म्य तो कहिए।

सद्दृष्टिमाता हृदि यस्य नित्यं। स्यात्तस्य सिंहोपि मृगो हि शीघ्रम् ॥
गजोप्यजो भीमफणी च माला। वन्हिश्च तोयं रिपवः सखायः ॥२९॥
जलं स्थलं ह्येव विपत्सु संपच्चौराः सुदासाश्च विषं सुधैव ॥
जरारुजादिः खलकंटकादिर्दुष्टग्रहादिः सुखसाधकाः स्युः ॥३०॥

उत्तरः—जिस मनुष्यके हृदयमे सम्यग्दर्शन रूपी माता सदा विराजमान है उसके लिए सिंह भी शीघ्र हिरण हो जाता है, हाथी बकरा हो जाता है, भयानक सर्प माला बन जाता है, अग्नि जलरूप हो जाती है, शत्रु मित्र हो जाते हैं, जल स्थल हो जाता है, समस्त विपत्तियां संपत्तिके रूपमे बदल जाती है, चोर दास हो जाते हैं, विष अमृत हो जाता है और बुढापा, रोग, दुष्ट, कंटक, दुष्टग्रह आदि दुःखके कारण सब सुखके साधन बन जाते हैं।

अचिन्त्यसौख्यस्य वरं निधानं, पोतं वरं तारयितुं भवाब्धेः।
साम्राज्यबीजं स्वसुखस्य सारं, भेत्तुं समर्थं च चतुर्गतिं च ॥ ३१ ॥

मिथ्यात्वतापं शमितुं जलं हि, दातुं समर्थं सुखशान्तिराज्यम्।
सम्यक्त्वरत्नं सकलाश्च जीवा ! गृण्हन्तु शीघ्रं निजराज्यहेतोः ॥ ३२ ॥

यह सम्यग्दर्शनरूपी रत्न अचिन्त्य सुखोंका श्रेष्ठ खजाना है, संसाररूपी समुद्रको पार कर देनेके लिये उत्तम जहाज है, तीनों लोकोंके राज्यका बीज है, आतमसुखका सार है, चारों गतियो को नाश करनेके लिये समर्थ है, मिथ्यात्वरूपी संतापको शांत करनेके लिये जल है, और सुख शांति के राज्यको देनेमें समर्थ है। ऐसा यह सम्यग्दर्शनरूपी रत्न समस्त जीवोंको अपने शुद्ध आतमा का राज्य प्राप्त करनेके लिये शीघ्र ही स्वीकार करना चाहिये-ग्रहण करना चाहिये ॥ ३१ । ३२ ॥

पिता न माता भगिनी न भार्या, बंधुर्न पुत्रो न च मित्रवर्गः।
न कोऽपि लोकेऽस्ति कुटुंबवर्गः, श्रेष्ठोऽपि नाको न च भोगभूमिः ॥३३॥
न कामधेनुर्न च कल्पवृक्ष, श्चिन्तामणिर्वा न च तंत्रमंत्रः।
सम्यक्त्वरत्नं प्रविहाय कोऽपि, मोक्षप्रदाता भवजन्महर्ता ॥३४॥

इस संसारमें एक सम्यग्दर्शनरूपी रत्न ही मोक्ष देनेवाला है और यही संसारके जन्म-मरणोंको हरण करनेवाला है। इस सम्यग्दर्शनपी रत्नके सिवाय माता, पिता, भगिनी, स्त्री, भाई, पुत्र, मित्रवर्ग, कुटुंबवर्ग, स्वर्ग, भोगभूमि, कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिंतामणि और तंत्र-

मंत्र आदि कोई भी न श्रेष्ठ हैं न मोक्ष देनेवाले है और न संसारके जन्ममरणके हरण करने-वाले हैं। एक सम्यग्दर्शनरूपीरत्न ही श्रेष्ठ है मोक्ष देनेवाला है और जन्ममरण के हरण करनेवाले हैं। एक सम्यग्दर्शनरूपी रत्न ही श्रेष्ठ है, मोक्ष देनेवाला है और जन्ममरण को हरण करनेवाला है ॥२३॥२४॥

सम्यग्दर्शनचिन्हानि साम्प्रतं वद भो गुरो ।

प्रश्नः—हे गुरो ! अब सम्यग्दर्शनके कौन कौन चिन्ह हैं ? उन्हें बतलाइये ।

सम्यक्त्वचिन्हं प्रतिपाद्यते हि, श्रद्धा च भक्तिर्गुरुदेवशास्त्रे ॥

संसारभोगाद्धि विरक्तबुद्धिः, सर्वेषु जीवेषु दयार्द्रभावः ॥३५॥

चिन्हेन बुद्ध्वा खलु सर्ववस्तु, परे विरक्तिश्च निजे रतिश्च ।

स्वात्मानुभूतेः स्वरसस्य पानं, सदा प्रयत्नो निजराज्यहेतोः ॥३६॥

आत्मात्मना चात्मनि चात्मन चात्मनो हि चात्मानमपि प्रयत्नात् ।

विलोकनं चिन्तनबोधनं च, पंचेंद्रियादेः प्रविहाय मार्गम् ॥३७॥

उत्तरः—हे वत्स ! सुन, अब मैं सम्यग्दर्शनके चिन्ह कहता हूं। देव, शास्त्र, गुरुमें श्रद्धा और भक्ति रखना, संसार और भोगोंसे विरक्त रहना, समस्त जीवोंकी दया पालन करना, समस्त पदार्थोंको अपने अपने लक्षणोंसे अच्छी तरह समझकर परपदार्थोंका त्याग कर देना वा परपदार्थों[illegible]ना और अपने आत्मतत्त्व[illegible] रहना, अपनी आत्मा-

नुभूतिका और अपने आत्मानंदका सदा पान करते रहना, तथा अपने आत्माका स्वराज्य प्राप्त करनेके लिये अर्थात् स्वतंत्र सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहना ये सम्यग्दर्शनके चिन्ह हैं। अथवा पांचों इन्द्रियोंके द्वारा और मनके द्वारा जो ज्ञान, दर्शन होता है उस ज्ञान दर्शनके मार्गको हटाकर केवल अपने आत्माके दर्शन ज्ञानके लिये अपने ही आत्मामें अपने आत्माके द्वारा अपनेही आत्माको जानना, देखना वा अपने आत्माका ज्ञान दर्शन संपादन करना, प्रयत्न पूर्वक उसीका चिंतन करना निश्चय सम्यग्दर्शनका चिन्ह है इसप्रकार ये सम्यग्दर्शनके चिन्ह हैं ॥३५।३६।३७॥

मिथ्यादृशश्च सद्दृष्टाः कथं कालं नयन्ति भोः ॥

प्रश्न—हे स्वामिन् ! सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टी अपने समयको किस प्रकार बिताते हैं ?

सद्दृष्टिजीवा गमयन्ति कालं, वैराग्यबुद्ध्या निजचिन्तनेन ।

मिथ्यात्वमूढाः कलहैरुपतैः, भोगोपभोगैर्विविधप्रकारैः ॥३८॥

उत्तर— सम्यग्दृष्टी जीव अपने हृदयमें वैराग्य धारण कर तथा अपने आत्माका चिंतन कर अपना समय व्यतीत करते हैं तथा अज्ञानी-मिथ्यादृष्टी जीव कलह करके अथवा प्राप्त हुए अनेक प्रकारके भोगोपभोगोंको सेवन करके अपना समय व्यतीत करते हैं ॥३८॥

हिंसकेन जनेनाहो पापं किं समुपार्ज्यते ।

प्रश्न—हे गुरो ! हिंसा करनेवाला मनुष्य क्या क्या पाप उत्पन्न करता है ?

जीवस्य सर्वेषु धनेषु मुख्यं, अस्ति प्रियं प्राणधनं सदैव ।

अतो यतन्ते पशवो जनाश्च, जानीह्यसूनां परिपालनार्थम् ॥३९॥
प्राणेषु तस्यापहृतेषु सत्सु, सर्वं धनं वापहृतं भवेद्धि ।
वा सर्वपापं स्वयमेव तेन, घोरातिघोरं च कृतं भवेद्धि ॥४०॥
मोक्षार्थभव्यैरवगम्य चैवं, प्रमादयोगादिह जीवलोके ।
कस्यापि जीवस्य न हिंसनीया, प्राणाः स्वजीवेषु गतेषु सत्सु ॥४१॥

उत्तरः—इस ससारी जीवोंके जितने प्रकारके धन हैं उनमे प्राणधन ही मुख्य और प्रिय है। इसी लिये समस्त पशु और मनुष्य अपने अपने प्राणोकी रक्षा करनेके लिये ही प्रयत्न करते रहते हैं ऐसा समझो। अतएव कहना चाहिये कि यदि किसी जीवका प्राणहरण किया जाता है तो समझना चाहिये कि उसका समस्त धनहरण करलिया जाता है अथवा समझना चाहिए कि जो दुसरोका प्राणहरण करता है वह स्वय सब तरह घोरातिघोर महा-पाप उत्पन्न करता है। यही समझकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको इस ससारमे अपने प्रमादजन्ययोगोंसे किसी भी जीवके प्राणोकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। चाहे अपने प्राणोका नाश हो जाय तो भी किसी भी जीवको किसी भी जीवके प्राणोकी हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥३९॥४०॥४१॥

अहिंसा कीदृशी देव ! फलं तस्याः किमद्भुतम् ॥ प्रश्न.—हे देव ! यह अहिंसा कैसी है और इसका क्या विचित्र फल है ?

अज्ञानहर्त्री वरभारतीव, मातेव या पालनपोषणेपि ।
वा सौख्यदा कामगवीव लोके, ज्ञात्वेत्यहिंसैव च मोक्षदात्री ॥४२॥
प्रमादयोगान्न कदापि हिंसां, कुर्वन्ति केषामपि ये सुभव्याः ।
वाक्कायचित्तैः सुदयार्द्रबुद्ध्या, पूतां ह्यहिंसां परिपालयन्ति ॥४३॥
दीर्घं वरायुः परमां सुबुद्धिं, श्रेष्ठं प्रभुत्वं परमं हि रूपम् ।
श्रेष्ठां विभूतिं वरदिव्यदेहं, धर्मानुकूलं च कुटुम्बवर्गम् ॥४४॥
षट्खण्डराज्यं सुमनोहरं ते, क्रमेण लब्ध्वानुपमं हि वस्तु ।
अन्यैरलभ्यं अचलं स्वराज्यमत्यन्तमिष्टं स्वसुखं लभन्ते ॥४५॥

उत्तर.—यह अहिंसा श्रेष्ठ सरस्वतीके समान अज्ञानको दूर करनेवाली है, माताके समान इस पृथ्वीपर पालन पोषण करनेवाली है, कामधेनु के समान सुख देनेवाली है और अंतमें मोक्ष देनेवाली है। यही समझकर जो भव्यजीव मन, वचन कायसे समस्त जीवोंपर दया धारण कर प्रमादके निमित्तसे कभी किसी जीवकी हिंसा नहीं करते हैं और अत्यंत पवित्र अहिंसा धर्मका पालन करते हैं उनको दीर्घ आयु प्राप्त होती है, सर्व श्रेष्ठ बडप्पन प्राप्त होता है, सर्वोत्कृष्ट सुंदर रूप प्राप्त होता है श्रेष्ठ विभूति प्राप्त होती है, श्रेष्ठ दिव्य शरीर प्राप्त होता है, धर्मानुकूल कुटुंबवर्ग प्राप्त होता है, छहो खंडका मनोहर राज्य प्राप्त होता है, अनुक्रमसे समस्त

अनुपम पदार्थ प्राप्त होते हैं। जो अन्य किसीको प्राप्त न हो सके और अनत कालतक सदा निश्चल बना रहे ऐसा आत्माका मोक्षरूप स्वराज्य प्राप्त होता है और अत्यंत इष्ट ऐसा शुद्ध आत्मजन्य अनंत सुख प्राप्त होता है। यह सब अहिंसा धर्मका ही फल समझना चाहिये ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

पितापुत्रादयः सर्वे स्वकीयाः सन्ति वा न वा ? प्रश्नः—पिता पुत्रादिक कुटुंबी लोग अपने हैं वा नहीं ?

पितापि माता भगिनी सुभार्या, पुत्रोऽपि मित्रं सकलोऽपि बंधुः।
दासी च दासः सकलापि संपत, अश्वो गजः सर्वजनोऽपि चान्यः ॥४६॥
वस्त्रं सुमाल्यं च विभूषणं यत्, किंचित्प्रियं वस्तु तदेव सर्वम् ॥
स्यात्स्वात्मनोऽन्यं सकलं च राज्यं, न याति केनापि समं ह्यमुत्र ॥४७॥

उत्तरः—पिता, माता, भगिनी, स्त्री, पुत्र मित्र, समस्त बंधुवर्ग, दासी, दास, सब तरहकी संपत्ति, हाथी, घोडे, कुटुंबपरिवारके लोग, अन्य पडोसी लोग, वस्त्र, आभूषण, मालाए, वा संसारमें अन्य भी जो कुछ प्रिय और इष्ट पदार्थ हैं वे सब इस आत्मासे भिन्न है, यह तीनो लोकोंका राज्य भी आत्मासे भिन्न है, क्योंकि इन पदार्थोंमेंसे कोई भी पदार्थ परलोकमें साथ नहीं जाता है। सब यहांके यहां ही पडे रहते हैं। अतएव ये सब पदार्थ आत्माके नहीं हैं ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

स्वकीया बांधवाः के भो परलोकानुगामिनः । प्रश्नः— फिर इस संसारमें ऐसे अपने बंधु कौन है जो परलोकमे भी साथ जाते है ?

संसारहर्त्री धृतिरेव माता, ज्ञानं पिता शांतिसुखादिदाता ।
स्वात्मानुभूतिर्विमला स्वभार्या, धर्मोऽस्ति बंधुः सततानुगामी ॥ ४८ ॥
क्षमा स्वदासी च शमः स्वदासः, पुत्रो विवेकश्च दया स्वसा हि ।
सखा सधर्मी मृदुता सखीति, स्वबंधवोऽमी परलोकसार्थाः ॥ ४९ ॥
स्वात्मानुभूतिर्विमलास्ति सम्पत्, निजात्मवासोऽस्ति गृहं पवित्रम् ।
स्वीये पदे वै शयनं सदैव, भक्ष्यं सुतोषः स्वरसश्च पानम् ॥ ५० ॥

उत्तर —वास्तवमें देखा जाय तो संसारको नाश करनेवाली धृति वा धैर्य ही जीवोंकी माता है, शांति सुख आदिको देनेवाला ज्ञान ही पिता है, निर्मल स्वात्मानुभूति ही इस जीव की स्त्री है, इस लोक परलोक दोनो लोकोंमें सदा साथ रहनेवाला धर्म ही बंधु है, उत्तम क्षमा ही दासी है, शम ही दास है, विवेक पुत्र है, दया बहिन है, साधर्मीजन मित्र हैं, और कोमलता ही सखी है। ये सब कुटुंबवर्गके लोग हैं और परलोकमें भी ये सब साथ जाते हैं। अपने आत्माकी निर्मल अनुभूति ही संपदा है, अपने आत्मामें निवास करना ही पवित्र घर है, अपने आत्मपदमें लीन होना ही पवित्र शय्या है, संतोष ही सर्वोत्तम खाद्य पदार्थ है और

अपने आत्माका आनंदामृत रस ही पीने योग्य पदार्थ है। ये सब परलोकमें साथ जानेवाले पदार्थ हैं ॥४८॥४९॥५०॥

कीदृशैः क्रियते लोकैर्ध्यानाध्ययनमुत्तमम्। प्रश्नः—हे देव ! कैसे मनुष्य उत्तम ध्यान और अध्ययन को कर सकते हैं ?

आशापिशाचः प्रबलोऽपि मोहो, दग्धश्च यैः क्रोधचतुष्टयं च।
तैः सर्वशास्त्रं पठितं श्रुतं वा, ध्यानं कृतं श्रेष्ठतपो जपोऽपि ॥ ५१ ॥
व्रतोपवासोऽपि परोपकारो, धर्मोपदेशोऽपि कृतश्च धर्मः।
तत्त्वप्रचारः स्वहितः कृतश्चा. चारो वरश्चाचरितः सदैव ॥ ५२ ॥
पूजा प्रतिष्ठा च दया क्षमापि, कृतैव यात्रा गुरुदेवसेवा।
दत्तं सुदानं च कृतं सुपुण्यं, ज्ञातव्यमेवं न च शंकनीयम् ॥ ५३ ॥

उत्तरः—जिन पुरुषोंने आशारूपी पिशाचको नष्ट कर दिया है, अत्यत तीव्र मोह को जला दिया है और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंको नष्ट करदिया है, समझलेना चाहिये कि उन्हीं लोगोंने समस्त शास्त्रोंको पढ लिया है, समस्त शास्त्रोंको सुन लिया है, उन्होंने उत्तम ध्यान धारण कर लिया है, उन्होंने, जप तप कर लिया है, व्रत उपवास कर लिया है, परोपकार कर लिया है, धर्मोपदेश दे लिया है, धर्म धारण कर लिया है, उन्होंने तत्त्वोंका प्रचार कर लिया है, आत्माका हित कर लिया है, श्रेष्ठ

चारित्रको धारण कर लिया है, पूजा प्रतिष्ठा करली है, दया पालन करली है, तीर्थयात्रा करली है, देव सेवा तथा गुरुसेवा करली है, उत्तम दान दे लिया है और उत्तम पुण्य संपादन कर लिया है ऐसा समझ लेना चाहिये इसमें किसी प्रकारकी शका नहीं है। न कभी इसमें शंका करनी चाहिये ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

को वा जीवति लोकेऽस्मिन् को वा जीवन्मृतो गुरो ! प्रश्न.—हे गुरो ! इस संसारमे कौन तो जीता और कौन तो ऐसा है जीता हुआ भी मरेके समान है ?

क्षमादिधर्मे स्वपरोपकारे, दक्षाः सदा स्वात्मविचारणे ये ।
कर्तुं यतन्ते स्वरसस्य पानं, नित्यं स्वराज्यं स्वगृहं च गंतुम् ॥ ५४ ॥
सदैव जीवन्ति त एव जीवाः, स्वात्मानुभूत्यां स्वपदे हि लीनाः ।
पूर्वोक्तभावैः रहिताश्च जीवाः, सन्त्येव लोकेऽत्र शवस्य तुल्याः ॥ ५५ ॥

उत्तरः—जो महापुरुष उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंको धारण करनेमें चतुर हैं, जो अपने आत्माका कल्याण और अन्य जीवोंका कल्याण करनेमे चतुर हैं, जो अपने आत्माके स्वरूपका विचार करनेमे सदा लीन रहते हैं, जो अपने आत्माके आनंदामृत रसका पान करनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं, जो मोक्षरूप अपने स्वराज्यमें जानेके लिये तथा अत्यंत शुद्ध अवस्थारूप अपने घर जानेके लिये जो सदा प्रयत्न करते रहते हैं, इसी प्रकार जो अपने आत्माकी स्वानुभूतीमें सदा लीन रहते है, और सिद्ध सदृश अपने आत्माकी शुद्ध

अवस्थामे सदा लीन रहते है वे ही जीव इस लोकमे सदा काल जीवित बने रहते हैं। तथा जो जीव कभी धर्म धारण नहीं करते, आत्मचिंतन नही करते और शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं करते वे जीव जीवित रहते हुए मुरदेके समान समझे जाते हैं ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

मोहदुष्टाः पिशाचाश्च क जनं न तुदन्त्यहो। प्रश्न—हे प्रभो ! मोह दुष्ट पिशाच आदि किस मनुष्यको दु:ख पहुचाते है ?

सन्तोषसम्पद् हृदि यस्य चास्ति, किं तस्य तीव्रापि करोति चापत्।
यथार्थबुद्धिर्हृदि यस्य चास्ति, किं तस्य मोहोपि करोति तीव्रः ॥ ५६ ॥
यस्यास्ति चित्ते जिनधर्ममंत्रः, किं तस्य कुर्याद्धि पिशाचवर्गः।
क्षमादिधर्मो हृदि यस्य चास्ति, किं तस्य कुर्यात्प्रबलोऽपि दुष्टः ॥५७॥

उत्तरः—जिसके हृदयमें संतोषरूपी संपदा विद्यमान है, उस मनुष्यको तीव्र आपत्तिभी कुछ नही कर सकती। जिसके हृदयमे आत्मज्ञानरूप यथार्थबुद्धि विद्यमान है उस को तीव्र मोह भी कुछ हानि नहीं पहुंचा सकता। जिसके हृदयमे जिनधर्मरूपी मंत्र विद्यमान है उसको कितने ही पिशाचोंका समूह दु:ख नहीं दे सकता और जिसके हृदय में उत्तम क्षमा आदि दश-धर्म विद्यमान हैं उसको सामर्थ्यवान् दुष्ट लोग भी कुछ दुःख नहीं दे सकते ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

मोहक्रोधादयो लोके कीदृशाः सन्ति भो गुरो। प्रश्न—हे गुरो ! इस संसारमे मोह, क्रोध आदि कैसे गिने जाते है ?

बंधो न मोहादपरोस्ति कोपि, शत्रुर्न कोपादिह तस्य कर्ता ।
पापं न लोभादपरं पृथिव्याम्, मानात्परो नास्ति सुदुःखदाता ॥ ५८ ॥
यस्यास्ति माया भवदुःखदात्री, तस्यास्ति दुष्टः सततं विचारः ।
यस्यास्ति चित्ते भवदुःखभीतिः, तस्यास्ति नित्यं निजतत्त्वचिंता ॥५९॥

उत्तर.—इस संसारमे मोहके सिवाय और कोई बंध नहीं है। मोहसे ही सब बंध होते हैं। इसी प्रकार क्रोधके सिवाय अन्य कोई अहित करने वाला शत्रु नहीं है, लोभके सिवाय अन्य कोई पाप नहीं है। और मानके सिवाय अन्य कोई गहरे दुःख देनेंवाला नहीं है। इसीप्रकार जिसके हृदयमें ससारभरको दुःखदेनेवाली अथवा अनंत संसाररूप परिभ्रमणमें दुःख देनेवाली मायाचारी विद्यमान हैं उसके विचार सदा दुष्ट और पापमय ही होते हैं। तथा जिसके हृदयमें संसारके दुखोंसे भय विद्यमान हैं उसके हृदयमे सदाकाल आत्मतत्वका चिंतन बना रहता है ॥५८॥५९॥

स्वर्गमोक्षसुख जीवैः केन मूल्येन लभ्यते! प्रश्नः—हे गुरो! इन जीवोंको स्वर्ग मोक्षका सुख किस मूल्यसे मिल सकता है?

निजात्मबुद्धिर्निजराज्यमूल्यं, परात्मबुद्धिर्भवदुःखबीजम् ।
निजात्मसेवैव सुखस्य दात्री, स्वर्मोक्षदात्री गुरुदेवसेवा ॥६०॥

उत्तरः—अपने आत्माका ज्ञान उत्पन्न होजाना आत्माके स्वराज्यका मूल्य समझना

चाहिये अर्थात् आत्मज्ञानसे आत्मसिद्धि होती है। इसके विपरीत परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि करना संसारके दुःखोंका कारण है। इसीप्रकार अपने आत्माकी सेवा सुख देनेवाली है और भगवान् अरहंत देवकी सेवा तथा निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा स्वर्ग मोक्ष देनेवाली है ॥ ६० ॥

स्वबोधरहितो जीवः कमनर्थं करोति भो। प्रश्नः—हे गुरो जो जीव आत्मज्ञानसे रहित है वह क्या क्या अनर्थ उत्पन्न करता है?

भुंक्ते हि दुःखं च सुखस्य हेतो र्लाभस्य हेतोर्हि करोति हानिम्।
कीर्तेश्च हेतोस्सुकरोत्यकीर्तिं, कार्यस्य हेतोश्च करोत्यकार्यम् ॥६१॥
शुभस्य हेतोरशुभं करोति, विधेश्च हेतोरविधिं तनोति।
बोधस्य हेतोश्च करोत्यबोधं, शान्तेश्च हेतोर्वितनोत्यशान्तिम् ॥६२॥
स्वर्गस्य हेतोर्नरकं प्रयाति, स्वबोधशून्यो जिनधर्मबाह्यः।
एवंविधं कौ विपरीतकार्यं, ह्यज्ञानतो मूढजनः करोति ॥६३॥

उत्तरः—जो जीव आत्मज्ञानसे रहित है, जिनधर्मसे बाह्य है, वह सुखके कारणोंको इकट्ठा करना चाहता है परतु उन कारणोंसे सुखके बदले दुःख ही भोगता है। लाभके लिए प्रयत्न करता है परतु उससे भी हानि उठाता है। अपनी कीर्तिको फैलाना चाहता है परंतु उन्हीं कार्योंसे उसकी अपकीर्ति होती है। वह किसी कार्यके लिये प्रयत्न करता है परतु उससे भी उसका अकार्य ही होता है। वह अपना कल्याण करना चाहता है परतु वह अपना अक

ल्याण ही कर लेता है। जिस किसी विधिको करना चाहता है परंतु वह उससे विपरीत
विधिको कर डालता है। वह ज्ञानके लिये प्रयत्न करता है परंतु उसका अज्ञान वा मिथ्या-
ज्ञान बढ जाता है। वह शांतिको चाहता है परंतु उसकी अशांति और बढ जाती है। स्वर्ग
जानेके साधन इकठा करना चाहता है परन्तु उन्हीं कारणोंसे वह नरक पहुंच जाता है। इस
प्रकार आत्मज्ञानसे रहित और जिनधर्मरहित मूढ जीव अपने अज्ञानसे विपरीत कार्यही
करता रहता है ॥६२॥६३॥

दानभोगेषु नायाति तद्धनं कुत्र गच्छति ? प्रश्नः—हे गुरो ! जो धन दान देने और
भोगोपभोगोंमें काम नहीं आता वह धन कहा चला जाता है ?

धनं च यो नात्ति ददाति नैव, धर्माय देवाय न वंधवेऽपि ।
मात्रेऽपि पित्रे गुरवेऽपि नैव, मन्ये ततोऽहं धनरक्षकं तम् ॥६४॥
तद्वा धनं तस्य हरन्ति चौरा, नयन्ति भूपा अनला दहन्ति ।
यत्रास्ति वा नश्यति तत्र शीघ्रं, ज्ञात्वेति देयं चतुरेण वाद्यम् ॥६५॥

उत्तरः—जो मनुष्य अपने धनको न खाता पीता है, न किसी धर्ममें देता है, न किसी
देवकार्य में खर्च करता है, और न माता, पिता, गुरु, भाई आदि किसीको देता है उस मनु-
ष्यको हम तो उस धनका रक्षक ही समझते हैं। अतमें उस धनको चोर हरणकर लेजाते हैं,
राजा हरणकर लेता है, अग्नि जला देती है अथवा जहां गडा रहता है वहीं नष्ट होजाता है।

॥२

यही समझकर चतुर पुरुषोंको अपना धन दानमें दे डालना चाहिये अथवा खाने पीनेमें खर्च कर देना चाहिये ॥६४॥ ॥६५॥

प्रयासः स्वात्मतृप्तस्य सार्थकोऽन्यो भवेन्न वा ? प्रश्नः—हे देव ! जो मनुष्य अपने आत्मतत्त्वमें तृप्त हो रहा है उसके अन्य प्रयास सार्थक होते हैं या नहीं ?

यः कोऽपि जीवः स्वरसेन तृप्तो, निजात्मनिष्ठो जिनधर्मतुष्टः ।
सत्यार्थजुष्टः परमार्थपुष्टो, वृथैव तस्यास्त्यपरः प्रयासः ॥६६॥

उत्तरः—हे वत्से मुन, जो जीव अपने आत्मरससे अत्यन्त तृप्त हो रहा है, जो अपने आत्मामें लीन हो रहा है, जिनधर्मसे संतुष्ट हो रहा है, सत्यार्थ भाषण करता है और जो परमार्थसे पुष्ट है ऐसे जीवके अन्य सब प्रयास व्यर्थ समझने चाहिये ॥ ६६ ॥

कीदृग्वेषो व्रत विद्वान् भाति लोके न तत्त्वतः ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमें कैसा वेष, कैसे व्रत और कैसा विद्वान् वास्तवमें शोभा नहीं देता ?

वैराग्यबोधै रहितो हि वेषो, लोके व्रतं वा दयया विहीनम् ।
न भाति शास्त्री स्वविचारशून्यः, सन्तोषशीलेन विना न विद्वान् ॥६७॥

उत्तर—जो साधुका भेष वैराग्य और सम्यग्ज्ञानसे रहित है, वह कभी शोभा नहीं देता । जो व्रत दयारहित हैं, वे भी कभी शोभा नहीं देते । जो शास्त्री आत्मविचारसे रहित है वह भी कभी शोभा नहीं देता तथा जो विद्वान् संतोष और शील धारण नहीं करता वह भी कभी शोभा नहीं देता ॥ ६७ ॥

स्वात्मतुष्टैर्विरक्तैश्च का सम्पत् प्राप्यते गुरो ? प्रश्न—हे गुरो ! जो जीव विषयभोगोसे विरक्त है और अपने आत्मामे संतुष्ट है उनको कौन कौनसी संपत्तिया प्राप्त होती हैं ?

य: कोपि जीवो विषयाद्विरक्तः, सदैव दक्षः स्वपरोपकार्ये ।
लीनोऽस्ति चानन्दरसे सुमिष्टे, स्वात्मप्रदेशेऽविचले विशुद्धे ॥६८॥
तस्यास्ति साम्राज्यनिधिः समीपः, पत्नीव च स्यान्निजराज्यलक्ष्मीः ।
भवन्ति शीघ्रं रिपवः सखायो, लोके परेषां हि कथैव कास्ति ॥६९॥

उत्तरः—जो जीव विषयोसे विरक्त हैं, अपने आत्माका कल्याण करने और अन्य जीवो का कल्याण करनेमे निपुण हैं और जो अत्यत मिष्ट ऐसे आनन्दामृतरसमे लीन हैं अथवा अत्यंत विशुद्ध और निश्चल अपने आत्मप्रदेशोमें लीन हैं उनके लिये साम्राज्यनिधि समीप ही समझनी चाहिये, तथा शुद्ध आत्मस्वरूप राज्यलक्ष्मी उसकी पत्नीके समान साथ रहती है और उसके समस्त शत्रु भी शीघ्र ही मित्र हो जाते हैं । फिर भला इस संसारमें औरोकी तो बात ही क्या है ॥६८॥६९॥

परलोके किमायाति सार्द्धं जीवेन किं न वा ॥ प्रश्नः— हे गुरो ! इस जीवके साथ परलोकमे क्या जाता है और क्या नहीं जाता ?

कुटुम्बिनः प्रेतवनस्य चान्तं, देहोऽपि भस्मीभवति स्वभावात् ॥
सम्पूर्णराज्यं च गजाश्वहर्म्यसुपार्जितं तिष्ठति यत्र तत्र ॥७०॥

न याति सार्द्धं किमपि त्वयैव, किंचित्कदाचिद्यदि याति किंवा ॥
त्वया समं याति च पुण्यपापं, ज्ञात्वेति शीघ्रं कुरु पुण्यकार्यम् ॥७१॥

उत्तरः—हे जीव ! देख ये तेरे कुटुम्बी लोग श्मशानभूमितक तेरे साथ जाते हैं, यह तेरा शरीर स्वभावसे ही भस्म हो जाता है और यह समस्त राज्य, हाथी, घोडे, राजभवन आदि जो कुछ तूने लिये हैं वा बनवाये है वे सब जहांके तहां पडे रह जाते हैं, इनमेंसे कोई भी पदार्थ कभी किसी समयमें भी तेरे साथ जानेवाला नहीं है। यदि तेरे साथ कोई जानेवाला है तो वह पुण्य और पाप है। यही समझकर तुझे शीघ्रताके साथ पुण्यकार्य ही करते रहना चाहिये ॥ ७० ॥ ७१ ॥

गुणी गृह्णाति किं लोके दोषी किं वा जगद्गुरो ! प्रश्नः—हे जगद्गुरो इस संसारमे गुणी पुरुष क्या ग्रहण करता है और दोषी पुरुष क्या ग्रहण करता है ?

क्षीरस्य पानं न करोति वत्सः, यावद्धि भृंगो न सुगंधपानम् ।
करोति साधुः स्वरसस्य पानं, यावन्न धर्मी गुरुदेवपूजाम् ॥७२॥
यावन्न गृण्हाति गुणी गुणान् हि, तावन्न शान्तिं न सुखं तथैव ।
दोषी च दोषं हि तथा जलौका, रक्तं न यावद्धि मलं वराहः ॥७३॥

उत्तरः—जबतक बच्चा दूध नहीं पीलेता तबतक उसे सुख शांति नहीं मिलती। भौंरा जबतक फूलोंका सुगंध पान नहीं कर लेता तबतक उसको सुख शांति नहीं मिलती। साधु

पुरुष जबतक अपने आत्मजन्य आनन्दामृतरसका पान नहीं करलेते तबतक उनको सुख शांति नहीं मिलती। धर्मात्मा पुरुष जबतक देवपूजा, गुरुपूजा नहीं करलेता तबतक उसको सुख शांति नहीं मिलती। उसी प्रकार गुणी पुरुष जबतक गुणोंको ग्रहण नहीं कर लेता तबतक उसे सुख शांति कभी नहीं मिलती। इसी प्रकार जोंक जबतक रक्तपान नहीं करलेती तबतक उसे सुख शांति नहीं मिलती। सूअर जबतक मल भक्षण नहीं कर लेता तबतक उसे सुख शांति नहीं मिलती उसीप्रकार दोषी पुरुष जबतक दोषोंको ग्रहण नहीं कर लेता तबतक उसे सुख शांति कभी नहीं मिलती ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

हिंसाऽहिंसा गुरो ! कास्ति संक्षेपेण वदाद्य भोः ! प्रश्नः—हे गुरो ! हिंसा क्या है और अहिंसा क्या है संक्षेपसे आज दोनोंका स्वरूप बतलाइये ?

संसारहंत्री निजबुद्धिरेवाहिंसास्ति, हिंसा परबुद्धिरेव ।
श्रीकुंथुनाम्ना मुनिनेव वर्ज्या, मोक्षाय निंद्या परबुद्धिरेव ॥७४॥

उत्तरः— संसारको हरण करनेवाली जो आत्मबुद्धि है, आत्माके स्वरूपको ग्रहण करनेवाली जो बुद्धि है उसको अहिंसा कहते हैं। तथा परपदार्थोंको ग्रहण करनेवाली जो बुद्धि है उसको हिंसा कहते हैं। जिस प्रकार कुंथुसागर नामके मुनिने मोक्ष प्राप्त करनेके लिये निंदनीय परबुद्धि का त्याग करदिया है उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समस्त भव्य जीवोंको निंदनीय परबुद्धिका त्याग कर देना चाहिये ॥ ७४ ॥

उत्तमो मध्यमो राजा कोऽधमो वद भो गुरो । प्रश्न.—हे श्रीगुरो ! यह बतलाइये कि इस संसारमें उत्तम राजा कौन है, मध्यम राजा कौन है और अधम राजा कौन है ?

एवं सदा रक्षति राज्यतन्त्रं, ज्ञातुं नृपः कोऽपि भवेन्न शक्तः ।
तत्कार्यसिद्धिं यदि वीक्ष्य शक्तो, भवेत्कदाचित्खलु नान्यथैव ॥७५॥
ब्रवीति यः कार्यवशाद्यथैव, करोति कार्यं सुखदं तथैव ।
सर्वस्वनाशेऽपि न चान्यथैव, करोति भूपोऽस्ति स मध्यमो हि ॥७६॥
करोमि चैवं हि करोमि चैवं, स्वैरं सदा जल्पति यत्र तत्र ।
न किंतु किंचित्स्वपरार्थकार्यं, करोति मूढो ह्यधमः स एव ॥७७॥

उत्तरः—जो राजा अपने राज्यतंत्रको इस प्रकार सुरक्षित और गुप्त रखता है कि कोई भी अन्य राजा उसे जाननेमें समर्थ नहीं होसकता। जब उस राज्यतंत्रका कार्य सिद्ध हो जाता है तब उस कार्यको देखकर उस राज्यतंत्रका अनुमान भले ही लगा सकता है अन्यथा नहीं। ऐसे राजाको उत्तम राजा कहते हैं। जो राजा अपने कार्यके निमित्तसे जैसा कहता है उसी प्रकार सुख देनेवाले उस कार्यको करता है। सर्वस्व नष्ट होनेपर भी जो अन्यथा नहीं करता उसको मध्यम राजा कहते हैं। जो राजा अपनी इच्छानुसार 'मैं यह करूंगा यह करूंगा' इस प्रकार जहां तहां कहता फिरता है किंतु अपना और दूसरोंका कल्याण करनेवाला कोई भी कार्य किंचितरूप भी नहीं करता उस मूर्खको अधमराजा कहते हैं ॥ ७५॥७६॥७७ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां कः क्रम किं च कारणम् ? प्रश्न —धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका क्रम क्या है और कारण क्या है ?

अर्थस्य मूलं कथितोऽस्ति धर्मो, धर्मार्थयुग्मं भुवि काममूलम् ।
मोक्षस्य मूलं स्वरसस्य पानं, विना सुमूलान्न तरुः प्रवर्द्धते ॥७८॥
धर्मेण चार्थः खलु तेन कामः, पश्चाद्धि मोक्षोऽपि भवेद्ध्रुवं हि ।
चलन्ति ये ते कथितक्रमेण, राज्यं स्वराज्यं स्वसुखं लभन्ते ॥७९॥

उत्तर —अर्थपुरुपार्थका मूल कारण धर्म है तथा धर्म और अर्थ ये दोनों ही कामपुरुषार्थके मूल कारण हैं और मोक्षपुरुपार्थका मूलकारण अपने आत्मासे उत्पन्न हुए आनंदामृतरसका पान करना है। जिस प्रकार विना मूलके वृक्ष नहीं बढता, मूलके होनेसे ही वृक्ष बढता है उसी प्रकार धर्मसे अर्थ और अर्थसे कामकी सिद्धि होती है। इस प्रकार अनुक्रमसे जो धर्म अर्थ, काम पुरुपार्थका सेवन करते हैं उनको सबके अंतमें मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है। जो मनुष्य ऊपर कहे हुए अनुक्रमके अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्षपुरुपार्थका सेवन करते हैं उनको राज्यकी प्राप्ति होती है, आत्मजन्य स्वराज्य की प्राप्ति होती है और आत्मजन्य अनंत सुखकी प्राप्ति होती है ॥७८॥७९॥

कोऽस्ति पापी च कृपणः को मूर्खः श्वभ्रगश्च कः ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस ससारमें पापी, कृपण, मूर्ख और नरकगामी कौन है ?

ध्यानं सुदानं न तपो जपोऽपि, पूजां प्रतिष्ठां न च तीर्थयात्राम् ।
न स्वात्मशुद्धिं स्वपरोपकारं, धर्मप्रचारं स्वगतेर्विचारम् ॥८०॥

दयाप्रचारं स्वसुखस्य चर्याम्, यः कोऽपि जीवो न करोति धर्मम् ।
स एव पापी कृपणोऽपि वत्स ! स एव मूर्खः खलु रन्ध्रगामी ॥८१॥

उत्तरः—हे शिष्य ! जो जीव न ध्यान करता है, न दान देता है, न तप करता है, न जप करता है, न पूजा करता है, न प्रतिष्ठा करता है, न तीर्थयात्रा करता है, न अपने आत्माकी शुद्धि करता है, न अपना कल्याण करता है, न अन्य जीवोंका कल्याण करता है, न धर्मका प्रचार करता है, न अपनी परलोककी गतिका विचार करता है, न दयाका प्रचार करता है न अपने आत्मसुखकी चर्चा करता है और न उत्तम क्षमादिक धर्म को धारण करता है, समझना चाहिये कि इस संसारमें वही पापी है, वही कृपण है, वही मूर्ख है और वही नरकगामी है ॥८०॥८१॥

कथं लोभादिरहितो मन्यते च धनादिकम् प्रश्नः—लोभादि रहित मनुष्य धनादिकको कैसा मानता है ?

लोभेन मुक्तस्य धनं शिलेव, वैराग्ययुक्तस्य विषं हि भार्या ।
समाधिलीनस्य सुधेव मृत्युः, सन्तोषिजीवस्य विपद्धि सम्पत् ॥८२॥

मिथ्यात्वयुक्तस्य दिवाऽपि रात्रिः, श्वभ्रश्च नाकसुखमेव दुःखम् ।
सम्यक्त्वयुक्तस्य ततो विरुद्धो, भवेत्प्रभावः स्वरसस्य योगात् ॥८३॥

उत्तरः—जो मनुष्य लोभरहित है उसके लिये धन भी शिलाके समान है । जो मनुष्य समाधि वा ध्यानमें लीन है उसके लिये मृत्यु भी अमृतके समान है। जो मनुष्य अत्यंत संतोषी है उसके लिये विपत्तियां भी सपत्तिके समान हैं । जो मनुष्य मिथ्यात्वको धारण करता है उसके लिये दिन भी रात्रि है अर्थात् मिथ्यातत्वरूपी अंधकार के होनेसे वह तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको नहीं जान सकता । इसी प्रकार उसके लिये स्वर्ग भी नरक है और सुख भी दुःख है । तथा जो मनुष्य सम्यग्दर्शन धारण करता है उसके लिये उसके विरुद्ध समझना चाहिये अर्थात् वह रातमें भी दिनके समान तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको जानता है । दुःखोंके आनेपर भी आत्मजन्य सुखमें लीन रहता है । सम्यग्दर्शनक प्रगट होनेपर जो अपने आत्मासे उत्पन्न हुआ आनंद-रसका समागम प्राप्त होता है उसका ही यह स्वभाव समझना चाहिये ॥ ८३ ॥

जिनधर्मविहीनस्य किं क्रिया सफला भवेत् ? प्रश्नः—जो मनुष्य जिनधर्मसे रहित है, क्या उसकी क्रियाएं सफल मानी जाती हैं ?

न भाति जीवो जिनधर्मबाह्यः, स्वात्मानुभूत्या स्वरसेन शून्यः ।
क्रिया कला वा विफलैव तस्य, भक्तिश्च शक्तिश्च भवेद्विनष्टा ॥८४॥

उत्तरः—जो मनुष्य जिनधर्मसे रहित है, अपने आत्मासे उत्पन्न हुई अनुभूतिसे रहित

है और आत्मासे उत्पन्न हुए आनन्दामृत रससे रहित है वह मनुष्य कभी शोभा नहीं पाता, तथा उसकी क्रियाएं और कलाएं सब निष्फल हो जाती हैं और उसकी शक्ति तथा भक्ति दोनों नष्ट हो जाती हैं ॥ ८४ ॥

किमर्थं मौनमाधत्ते कथं वा वक्ति तापसः ? प्रश्नः—तपस्वी लोग किस लिए तो मौन धारण करते हैं और किस प्रकार बोलते हैं ?

स्वात्मार्थसिध्द्यै खलु मौनमेव, दधाति साधुर्यदि वा ब्रवीति ।
स्वार्थाविरोधेन हितं मितं च, शांन्तिप्रदं क्लेशहरं हि सत्यम् ॥८५॥
बोधप्रदं वैरभयप्रमुक्तं, सुखप्रदं दुःखहरं प्रशस्तम् ।
निजात्मसिध्द्यै परिणामशुध्द्यै, शास्त्रानुकूलं स्वपरोपशान्त्यै ॥८६॥

उत्तर —तपस्वी लोग अपने आत्मपुरुपार्थ वा मोक्षपुरुपार्थ को सिद्ध करनेके लिये अवश्य ही मौन धारण करते हैं। यदि कदाचित् वे बोलते हैं तो जिसप्रकार अपनी आत्मशुद्धिमें विरोध न आवे उसीप्रकार हित करनेवाले, थोडे वचन कहते हैं, तथा सबको शांति देनेवाले, क्लेशोंको दूर करनेवाले, आत्मज्ञानको उत्पन्न करनेवाले यथार्थ वा सत्य, वैर व भयसे रहित, सुख देनेवाले, दुःखोंको नाश करनेवाले, प्रशस्त और शास्त्रानुकूल वचन कहते हैं । तथा ऐसे वचनोंको भी अपने आत्माकी सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेके लिये परिणामोंको शुद्ध करनेके लिये तथा अपने आत्माको और अन्य जीवोंको शांत करनेके लिये कहते है ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

स्वामिन् ! स्वघातकः को वा को वास्ति परघातकः ? प्रश्न.—हे स्वामिन् ! इस संसारमे अपने आत्माका घात करनेवाला कौन है और दूसरोंका घात करनेवाला कौन है ?

अतीवमूल्यं नरजन्म लब्ध्वाप्यंगैरुपांगैः परिपूर्णदेहम् ।
श्रेष्ठार्यखण्डं कुलजातिशुद्धिं, रसायनं वा जिनधर्ममेव ॥८७॥
निजात्मशुद्धिं स्वरसस्य पानं, स्वस्थानचिन्तां स्वगतेर्विचारम् ।
करोति यो नात्महितं स एव, स्वघातको वा परघातकोऽपि ॥८८॥

उत्तर.—यह मनुष्यजन्म अत्यंत मूल्यवान है जो मनुष्य ऐसे बहुमूल्य मनुष्य जन्मको पाकर तथा समस्त अंग उपांगोंसे बने हुए पूर्ण शरीर को पाकर, श्रेष्ठ आर्यखंडमें जन्म लेकर, शुद्ध कुल और शुद्ध जातिमें जन्म लेकर और रसायनके समान समस्त पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाले जिनधर्मको पाकर भी जो अपने आत्माको शुद्ध नहीं करते हैं, अपने आत्मजन्य आनंदामृत रसका पान नहीं करते हैं, अपने मोक्षरूप स्थानकी चिंता नहीं करते हैं, अगले जन्ममें होनेवाली गतिका विचार नहीं करते हैं और अपने आत्माका हित नहीं करते हैं उन्हीं मनुष्योंको अपने आत्माका घात करनेवाला और अन्य जीवोंका घात करनेवाला समझना चाहिये ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

को धीमान्पुरुषो देव ! मनुजोऽपि पशुश्च कः ? प्रश्न.—हे देव ! चतुर मनुष्य कौन है तथा मनुष्य होते हुए भी पशुके समान कौन है ?

विचार्य सम्यक् च पुनःपुनर्यो, ब्रवीति भाषां सुकृतिं करोति ।
जिनानुयायी मनुजः स एव, श्रीमांश्च धीमान् निपुणः कृतज्ञः ॥८९॥
विचार्य सम्यङ्न पुनःपुनर्यो, ब्रवीति भाषां न कृतिं करोति ।
कुमार्गगाम्येव पशुः स लोके श्रीमान् दरिद्रश्चतुरोऽपि मूर्खः ॥९०॥

उत्तर —जो मनुष्य अच्छी तरह बार बार विचार कर वचन कहता है और अच्छी तरह बार बार विचार कर ही काम करता है तथा जो भगवान् जिनेंद्रदेवके कहे हुए वचनों के अनुकूल चलता है उसीको श्रीमान् समझना चाहिये, उसीको धीमान् वा बुद्धिमान समझना चाहिये तथा उसीको चतुर और कृतज्ञ समझना चाहिये। इसी प्रकार जो मनुष्य विना बार बार अच्छी तरह विचार किये वचन कह देता है और विना विचार किये ही काम कर लेता वह कुमार्गगामी पशु है और वह संसारमें श्रीमान् होते हुए भी दरिद्री कहलाता है और चतुर होते हुए भी मूर्ख कहलाता है ॥ ८९ ॥ ९० ॥

मनुष्याणां गुरो ! केषां सफल जन्म विद्यते ? प्रश्नः—हे गुरो ! किन मनुष्योंका जन्म सफल माना जाता है ?

श्रद्धा सुबुद्धिर्जिनधर्ममार्गे, स्वचिन्तने स्वात्मविचारणे वा ।
येषां निजानंदपदे निषद्या, पूते स्ववासे शयनं सदैव ॥ ९१ ॥

सदैव चर्यास्ति निजप्रदेशे, पूते निजानन्दरसेऽस्ति तृप्तिः ।
सदैव वार्ता गुणिभिश्च सार्द्धं, श्रेष्ठं च तेषां सफलं हि जन्म ॥ ९२ ॥

उत्तर —जिनकी श्रद्धा और श्रेष्ठ बुद्धि जिनधर्म वा मोक्षमार्ग में लगी हुई है, अथवा अपने शुद्ध आत्माके चिंतनमें लगी हुई है, अथवा अपने शुद्ध आत्माके विचार करनेमें लगी हुई है. तथा जो अपने आत्मासे उत्पन्न हुए आनन्दके स्थानमे बैठते है, पवित्र शुद्ध आत्मामें शयन करते हैं, अपने शुद्ध आत्मप्रदेशोंमे सदा चर्या करते है, अपने आत्मासे उत्पन्न हुए आनदरसमें ही सदा तृप्त रहते हैं, और पंचपरमेष्ठी रूप गुणी पुरुषोंके ही साथ जो सदा वातर्चात करते हैं अर्थात् जो उन्हीं की पूजा, स्तुति करते रहते हैं ऐसे ही लोगोंका जन्म इस ससारमे श्रेष्ठ और सफल माना जाता है ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

त्रिलोके शूरवीरः कः कथयाद्य गुरो मम ? प्रश्न --हे गुरो ! तीनों लोकोंमें शूरवीर कौन है आज मेरे लिए कहिए ?

भवे सुभीमे क्षणदृष्टनष्टे, क्षुधातृषारोगवियोगदुःखे ।
भोगे च देहे वरजीवने च, पुत्रप्रपौत्रे वरमित्रवर्गे ॥ ९३ ॥
षट्खण्डराज्ये सुकलत्रवर्गे, स्पर्शे रसे रागमनोज्ञवर्गे ।
कौ यो विरक्तः स्वरसे सुरक्तः स एव शूरः सकलेऽपि विश्वे ॥९४॥

उत्तरः—जो मनुष्य क्षुधा, तृषा, रोग, वियोग आदिके दुःखोंसे भरे हुए अत्यंत भयानक और क्षणभरमें ही दिखाई देकर नष्ट होनेवाले इस संसारसे विरक्त हैं, जो भोगोंसे विरक्त हैं, शरीरसे विरक्त हैं, श्रेष्ठ जीवनसे विरक्त हैं पुत्रपौत्रोंसे विरक्त हैं श्रेष्ठ मित्रवर्गोंसे विरक्त हैं, छहों खंडके राज्यसे विरक्त हैं, अपनी स्त्रियोंसे विरक्त हैं, स्पर्श रस आदि इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त हैं और रागादिक कामदेवके सहायकोंसे विरक्त हैं। इस प्रकार जो मनुष्य इस संसारमें संसार, शरीर, भोगादिकोंसे विरक्त हैं और अपने आत्मजन्य आनन्दामृतरसमें लीन हैं वे ही मनुष्य इस समस्त संसारमें शूरवीर समझे जाते हैं ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

स्वानुभूत्याः पतिः को वा भवेदात्मा गुरो ! दिश ? प्रश्नः—हे गुरो ! कृपाकर बतलाइये कि अपने आत्माकी अनुभूतिका स्वामी कौन है ?

न वस्तु गृह्णन्ति निजात्मबाह्यं, विनाशशीलं विपरीतभूतम्।
नैवं निजानन्दपदं स्वकीयं, त्यजंति चानन्दरसं कदापि ॥ ९५ ॥
जानन्ति पश्यन्ति निजान् परान्ये, स्वात्मानुभूतेः पतयो यथावत् ॥
त एव वंद्याश्च नरामरेन्द्रैः, सदैव पूज्या हृदि चिन्तनीयाः ॥९६॥

उत्तरः—जो मनुष्य अपने आत्मासे भिन्न रहनेवाले तथा आत्मासे विपरीतभूत, विनाशशील पुद्गलादिक पदार्थोंको कभी ग्रहण नहीं करते हैं, तथा जो अपने आत्मजन्य स्वकीय आनन्दामृतपदको और शुद्ध आत्मजन्य आनंद रसको कभी नहीं छोडते हैं, और जो

अपने आत्मतत्वको तथा आत्मासे भिन्न पुद्गलादिक समस्त तत्वोंको यथार्थरूपसे जानते हैं और देखते हैं वे ही पुरुष स्वात्मानुभूतिके स्वामी गिने जाते हैं। ऐसे पुरुषोंको इन्द्र, चक्रवर्ती आदि सभी वंदना करते हैं, सदा उनकी पूजा करते हैं, और अपने हृदयमें सदा उनका चिंतन करते रहते हैं ॥९५॥९६॥

किमर्थं लब्धमेतद्धि शरीरं वद मे गुरो ? प्रश्नः—हे गुरो ! यह बतलाइये कि यह शरीर किसलिए प्राप्त किया गया है ?

मोक्षार्थिभिर्धर्मधनेन यत्नात्, क्रीतं विशुद्धं वपुरेव यानम् ।
अत्यन्तभीमात्कुटिलाद्भवाब्धेः, स्वर्गापवर्गादिविनाशकाद्वै ॥९७॥
गन्तुं च पारं स्वरसं च पातुं, ज्ञात्वेति मुक्त्वा भवदेहमोहम्,
यावन्न नश्येद्धि वपुश्च तावत्, तरन्तु कुर्वन्तु निजोपकारम् ॥९८॥

उत्तर—मोक्षकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंने धर्म रूपी धन खर्च करके बडे प्रयत्नसे यह विशुद्ध शरीररूपी जहाज खरीदा है। तथा यह जीव जो अत्यंत भयानक, कुटिल और स्वर्ग-मोक्ष आदिको नष्ट करनेवाले संसाररूपी समुद्रमें पडा हुआ है उसको इस संसारसमुद्रसे पार करने के लिये और आत्मजन्य निजानंदरसकी रक्षा करनेके लिये ही यह शरीररूपी जहाज खरीदा है। यही समझकर संसार और शरीरसे मोहका त्यागकर जबतक यह शरीर नष्ट नहीं होता तबतक इस शरीरसे यह संसाररूपी समुद्र पार करलेना चाहिये, और इस प्रकार अपने

आत्माका महा उपकार करलेना चाहिये ॥९७॥९८॥

कीदृशाः सन्ति लोकेऽस्मिन् जन्मसंगसुखादयः। प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसार में जन्म, परिग्रह, सुख आदि कैसे माने जाते हैं ?

यस्यैव जन्मास्ति च तस्य मृत्यु-, र्यस्यैव संपद्विपदेव तस्य ।
यस्यवै संगोऽस्ति भवेद्वियोगो, यस्यैव दुःखं सुखमेव तस्य ॥९९॥
यस्यास्ति तारुण्यतरुश्च लोके, क्रमेण वृद्धोऽपि भवेत्स जीर्णः ।
निजात्मबाह्या इति को पदार्थाः, प्रोक्ताः सदा सन्ति विनाशशीलाः ॥१००॥

उत्तरः—इस संसारमें जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है, जिसके पास संपदाए होती है, उसके पास विपत्तियां भी अवश्य आती है। जिसके पास परिग्रह इकट्ठा हो जाता है उसे उन परिग्रहोका वियोग भी सहना पडता है, जिसको सुख प्राप्त होता है उसको दु:ख भी अवश्य भोगना पडता है, इस ससार मे जिसके पास अनुक्रमसे बढता हुआ तारुण्यरूपी वृक्ष शोभा देता है उसके पासस वही तारुण्यरूपी वृक्ष जीर्ण भी अवश्य होता है। इस प्रकार विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि इस संसारमे अपने शुद्ध आत्मासे भिन्न जितने भी पदार्थ कहे गये हैं वे सब सदा विनाशशील—नष्ट होनेवाले ही देखे गये हैं ॥९९॥ ॥१००॥

चिन्तनीयः सदा योगी कीदृशो वद भो गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो ! कृपाकर कहिये कि

कैसे योगीका सदा चिंतन करते रहना चाहिए ?

स्वयं भवाब्धेस्तरति प्रयत्नात्, यः कोऽपि भव्यान्निजपृष्ठलग्नान् ।
कृत्वा दयां तारयति स्वभावात्, स एव योगी हृदि धारणीयः ॥ १०१ ॥

उत्तरः—जो कोई जोगी प्रयत्नपूर्वक इस संसाररूपी समुद्रसे स्वयं पार हो जाता है और अपने पीछे लगनेवाले भव्य जीवोंको अपने स्वभावसे ही दयाकर पार कर देता है वही योगी अपने हृदयमें सदा धारण करने वा चिंतवन करने योग्य है ॥ १०१ ॥

कीदृशः पुरुषो लोके सम्यग्दर्शनसंयुत ? प्रश्नः—कैसा मनुष्य सम्यग्दर्शनसे सुशोभित वा सम्यग्दृष्टी कहलाता है ।

तृणे च रत्ने विषकण्टकेऽपि, निंदास्तुतौ मित्ररिपौ वनेऽपि ।
ग्रामे पुरे सुंदरमन्दिरेऽपि, लाभेऽप्यलाभे खलु जन्ममृत्यौ ॥१०२॥
रम्येऽप्यरम्ये च निजात्मबाह्ये, रोगेऽप्यरोगेऽपि सुखे च दुःखे ।
एतेषु यस्यास्ति समानभावः, सद्दृष्टिरेवास्ति स एव लोके ॥१०३॥

उत्तरः—मनुष्य तृणोंमें वा रत्नोंमे, विषमें वा कांटोंमें, निंदा वा स्तुतीमें शत्रु वा मित्रमें, वन वा गांवमे, नगरमें वा सुन्दर मंदिरोंमे, लाभ वा अलाभमें, जन्म वा मरणमें, रोग वा नीरोगतामें, सुख वा दुःखमें औ आत्मासे भिन्न मनोहर वा घृणित पदार्थोंमें अर्थात् इष्ट वा अनिष्ट समस्त पदार्थोंमें जो समान भाव धारण करता है, सबको समान देखता है उसीको इस संसारमें

सम्यग्दृष्टी समझना चाहिये ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

अल्पायुरपि को वृद्धो हे देव वद साम्प्रतम् ? प्रश्न;—हे देव ! अब यह बतलाइये कि अल्पायुमें भी वृद्ध कौन कहलाता है ?

अत्यंतभीमे सकलेप्सिते वै, स्थितोऽपि तारुण्यवने ह्यलिप्तः
लीनोऽस्ति चानंदरसे सदा यो, दिनैरवृद्धोऽपि स एव वृद्धः ॥१०४

उत्तर.—यह तारुण्यरूपी वन अत्यन्त भयानक है और सब लोग इसको चाहते हैं. ऐसे तारुण्यरूपी वनमें रहता हुआ भी जो उस तारुण्यवनमें लिप्त नहीं होता उससे विरक्त रहता है और जो सदा अपने आत्मजन्य आनंदरसमें लीन रहता है, वह वर्षोंके हिसाबसे वृद्ध न होने-पर भी संसारमें सर्वोत्कृष्ट वृद्ध समझा जाता है ॥ १०४ ॥

कोऽसौ सखा मनुष्यस्य लोकेऽस्मिन् भो गुरो ! वद ? प्रश्नः—हे गुरो ! कृपाकर बतलाइये कि इस संसारमें मनुष्यका मित्र कौन है ?

रोगेऽप्यरोगे खलु हानिलाभे, क्षुधातृषायां भुवने वने वा।
मानापमाने च सुखेऽपि दुःखे, सखा स एवास्ति समानभागी। ॥ १०५ ॥

उत्तरः—जो पुरुष रोग वा नीरोग अवस्थामें, हानि वा लाभमें, भूख या प्यासमें, राजमहल वा वनमें, मान और अपमानमें तथा सुख और दुःखमें जो समान भाग लेता है वही इस संसारमें मनुष्योंका मित्र कहलाता है ॥ १०५ ॥

आशाचिन्तादुराचारैः प्रणश्यन्ति च के गुणाः ?

प्रश्नः—हे गुरो ! आशा, चिंता और दुराचार से कौनंनसे को गुण नष्ट हो जाते हैं ।

तीव्रा धनाशा हृदि यस्य तस्य, स्वप्नेऽपि धर्मो न च दानपूजा ।
यस्यास्ति चित्ते व्यभिचारबुद्धिः, स्वप्नेऽपि लज्जा न कुलादिरक्षा ॥१०६॥
चिन्तानिवासो हृदि यस्य तस्य, स्वप्नेऽपि न स्यात्सुखशान्तिपानम् ।
मूर्खत्वभावो हृदि यस्य तस्य, स्वप्नेऽपि नीतिर्न निजात्मसिद्धिः ॥१०७॥

उत्तरः—जिस मनुष्य के हृदयमें तीव्र धनकी आशा लग रही है वह स्वप्नमें भी कभी धर्म नहीं करता, न वह दान देता है और न कभी पूजा करता है । इसी प्रकार जिसके हृदयमें व्यभिचारबुद्धि घुस जाती है उसके हृदयमें लज्जा और कुल वा जातीकी रक्षा कभी स्वप्नमें भी नहीं आसकती । तथा जिसके हृदयमें चिंता विद्यमान है उसके हृदयमें सुख और शांतिका पान कभी स्वप्नमें भी नहीं हो सकती । और जिसके हृदयमें मूर्खता भरी हुई है उसके हृदय में नीति और शुद्ध आत्माकी सिद्धि कभी स्वप्नमें भी नहीं हो सकती ॥१०६॥१०७॥

बद्धो मुक्तश्च जीवोऽयं भो गुरो ! केन हेतुना ? प्रश्नः—हे गुरो ! यह जीव किस हेतु-से कर्मसे बंध जता है और किस हेतुसे मुक्त हो जाता है ?

स्ववस्तुबुध्या परमेव वस्तु, यः कोऽपि गृह्णाति स एव बद्धः ।
स्ववस्तु चैवं परवस्तुबुध्या, गृह्णाति यः कोऽपि च सोऽपि बद्धः ॥१०८॥

निजत्वबुध्या निजमेव वस्तु, परत्वबुध्या परमेव वस्तु।
चिह्नेन गृह्णात्यवगम्य यो हि, स एव मुक्तः सुखशान्तिभोक्ता॥ १०९ ॥

उत्तरः—जो मनुष्य आत्मासे भिन्न पुद्गलादिक पर पदार्थोंको अपने आत्माके समझकर ग्रहण करता है वह मनुष्य वा जीव अवश्य ही कर्मोंसे बंध जाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने आत्मतत्त्वको ही परवस्तु समझकर ग्रहण करता है वह भी कर्मोंसे अवश्य बंध जाता है तथा जो मनुष्य अपने अपने लक्षणोंसे आत्मतत्त्वको आत्मतत्त्व समझकर ग्रहण करता है, और परपदार्थोंको पर पदार्थ समझकर ग्रहण करता है, अर्थात् जिसे स्वपरविवेक बुद्धि प्राप्त होगई है वही मनुष्य मुक्त हो जाता है और सुख शांतिको भोगनेवाला बन जाता है ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

केषां सुनिर्मला कीर्तिः कीर्तनीया सदा गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो ! किन लोगोंकी निर्मल कीर्ति सदा वर्णन करते रहना चाहिये ?

यस्यास्ति चित्ते गुरुदेवभक्तिः, सुपात्रदाने वरभावबुद्धिः।
श्रद्धा-प्रयत्नः स्वपरोपकारे, पुराणशास्त्रे जिनधर्ममार्गे ॥११०॥
स्वाचारमार्गे विमला प्रवृत्ति, रास्तिक्यबुद्धिः परलोककार्ये।
वात्सल्यभावः सुजने सधर्मे, तस्यैव कीर्तिर्भुवि कीर्तनीया ॥ १११ ॥

उत्तरः—जिस पुरुषके हृदयमें देवभक्ति और गुरुभक्ति भरी हुई है, श्रेष्ठ पात्रोंको दान देनेके लिये उत्तम परिणाम और उत्तम बुद्धि भरी हुई है, जिसके हृदयमें आत्मकल्याण करने और अन्य जीवोंका कल्याण करनेकी श्रद्धा भरी हुई है तथा जो आत्मकल्याण और परकल्याण करनेके लिये सदा प्रयत्न करता रहता है, जो पुराण शास्त्रोंमें और जिनधर्म वा मोक्षमार्गमें श्रद्धा रखता है, पुराणशास्त्रों के पढने पढानेमें, जिनधर्मकी वृद्धि और मोक्षमार्गकी वृद्धि में सदा प्रयत्न करता रहता है, जो श्रेष्ठ चारित्रके पालन करनेमें अपनी निर्मल प्रवृत्ति रखता है। परलोकके कार्योंमें आस्तिक्य रखता है तथा जो सज्जन और धर्मात्मा पुरुषोंमें वात्सल्यभाव धारण करता है उसी महापुरुषकी कीर्ति इस संसारमें सर्वत्र वर्णन करते रहना चाहिये ॥११०॥१११॥

संसारतापतप्तानां के वा विश्रांतिहेतवः ? प्रश्न —हे गुरो ! जो जीव संसारके संताप से तप्तायमान हैं उनकी विश्रांतिके कारण क्या हैं ?

संसारवह्नौ दहतां जनानां, विश्रांतिहेतोर्वरकारणानि ।
षडेव वेद्यानि तमोहराणि, शान्त्यादिकानि स्वसुखप्रदानि ॥११२॥

सदा विवेकः समशांतिसम्पत् , संसारभोगेषु विरक्तबुद्धिः ।
अध्यात्मविद्या निजराज्यदात्री, सम्यक्प्रवृत्तिः स्वपदे निवासः ॥११३॥

उत्तरः—जन्ममरणरूप संसाररूपी अग्निमें जलते हुए जीवोंको विश्रांति प्राप्त करनेके-

लिये छह कारण बतलाये हैं। जो कि मिथ्यात्वरूपी अंधकारको दूर करनेवाले हैं, शांति आदि सुखके कारणोंको देनेवाले हैं, और आत्मसुखको प्रदान करनेवाले हैं। वे छह कारण ये हैं। सदा विवेक धारण करना अर्थात् आत्माके हित अहित का विचार होना, समता और शांतिरूपी संगतिका प्राप्त होना, संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्तबुद्धि का होना, अपने आत्माका स्वराज्य अर्थात् सिद्ध अवस्था प्राप्त करानेवाली अध्यात्मविद्याका अभ्यास करना, दान-पूजा आदि श्रेष्ठ कार्योंमें अपनी प्रवृत्ति करना और अपने शुद्ध आत्मामें निवास करना। ये छह जीवोंको सुख और शांति देनेवाले हैं। इन्हींसे संसारके समस्त दुःख छूट जाते हैं ॥११२॥११३॥

भो गुरो ! निपुणः कोऽसौ कथ्यते बुधसत्तमैः ? प्रश्नः—हे गुरो ! श्रेष्ठ विद्वान् लोक इस संसारमें निपुण किसको कहते हैं ?

क्षेमो विवेको हि कुटुंबवर्गे, पूज्येषु भक्तिः सकलेषु मैत्री।
जिनस्य सेवा करुणैव दीने, माध्यस्थवृत्तिर्निजबोधहीने ॥११४॥
प्रीतिश्च धर्मिष्ठु सदैक्यभावः, सदैव षंढः परवल्लभासु।
एतैर्विचारैः सुखशान्तिदैश्च यः कोऽपि युक्तो निपुणः स एव ॥११५॥

उत्तरः—जो मनुष्य अपने कुटुंबवर्गमें क्षेम धारण करता है, तथा विवेक धारण करता है, पूज्य पुरुषोंमें भक्ति धारण करता है, समस्तजीवोंमें मैत्री धारण करता है, जिनदेवकी सेवा करता है, दीनोंमें करुणा धारण करता है, आत्मज्ञानमें हीन

पुरुषोंमें मध्यस्थता धारण करता है विद्वान् पुरुषोंमें प्रेम करता है, सबसे मिलकर रहता है और परस्त्रियोंके लिये नपुंसक बन जाता है। इस प्रकार सुख और शांति देनेवाले शुभविचारोंसे जो सदा शोभायमान है वही पुरुष इस संसारमें निपुण कहलाता है ॥ १४॥ १५॥

क्रोधिनः पुरुषो लोके कान् जीवान् हन्ति भो गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमें क्रोधी पुरुष किन जीवोंको मार डालता है ?

निजात्मशून्यो यदि कोऽपि जीवः, क्रोधेन तप्तो भुवने कदाचित् ।
पितृंश्च मातॄनपराधशून्यान्, मित्राणि बंधूनपि धर्मयुक्तान् ॥११६॥
स्वानन्दतृप्तानपि सर्वसाधून्, विचारशून्यः खलु हन्ति सर्वान् ।
पापिष्ठराजा हि यथैव जीवान्, धिगस्तु कौ तं परमार्थशून्यम् ॥११७॥

उत्तरः—जो जीव अपने आत्मज्ञानसे रहित होता है वह यदि क्रोधसे संतप्त हो जाय तो वह विना किसी अपराधके माताको भी मार डालता है, पिताको भी मार डालता है, मित्रोंको भी मार डालता है, धर्मात्मा भाइयोंको भी मार डालता है, अपने आत्मजन्य आनंद में तृप्त रहनेवाले समस्त साधुओंको भी मार डालता है। जिस प्रकार पापी राजा अनेक निरपराध जीवोंको मार डालता है उसी प्रकार विचाररहित क्रोधी मनुष्य भी समस्त जीवोंको मार डालता है। अतएव इस संसारमें परमार्थरहित जीवोंको वारवार धिक्कार है ॥ ११६ ॥ ॥११७॥

तत्त्वप्रबोधशून्यास्ते जीवा किं चिन्तयंति भो ? प्रश्नः—हे गुरो ! तत्त्वज्ञानसे रहित जीव क्या क्या चिंतन करते हैं ?

त्राताहमेवास्मि कुटुम्बकानां, रोगादिकानां प्रविनाशकर्ता ।
स्वामी जनानामहमेव नेता, पुत्रप्रपौत्रस्य विवाहकर्ता ॥११८॥
दुःखादिकानां हि भयंकराणां, सुखादिकानां च मनोहराणां ।
वस्त्रादिकानां सुमनोहरणां, धनादिकानामहमेव दाता ॥११९॥
समस्तभूमेरहमेव राजा, मया विना तेऽपि भवन्ति दीनाः ।
एवं विचारेण सदा प्रमत्तः, करोत्यकार्यं भववर्द्धकं च ॥१२०॥

उत्तरः—अपने समस्त कुटुंबको पालन करनेवाला मैं ही हूं, मैं उनके समस्त रोगोंको दूर करनेवाला हूं, मैं ही उन सबका स्वामी हूं, मैं ही नेता हूं, पुत्र, पौत्र, और प्रपौत्रोंका विवाह करनेवाला भी मैं ही हूं, भयंकरदुःखादिकोंको नष्ट करनेवाला और मनोहर सुखोंको देनेवाला भी मैं ही हूं, मैं ही मनोहर वस्त्रभूषणोंको देनेवाला हूं और मैं ही धनादिकको देनेवाला हूं, मैं इस समस्त पृथ्वीका राजा हूं । मेरे विना ये सब लोग दीन ही समझने चाहिये । इस प्रकारके निंद्य विचारोंसे प्रमादी हुए अज्ञानी मनुष्य जन्ममरणरूप संसारको बढानेवाले अकार्य ही करते हैं ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

लभन्ते सुखशान्तिं किं ग्रहग्रस्ता न वेति भो. ? प्रश्न:—हे गुरो ! पागलोंके समान ग्रहग्रस्त मनुष्य क्या सुख शांति को प्राप्त कर सकते हैं वा नहीं ?

कपेश्च तुल्यं हृदयं जनानां, दंशस्य तुल्योऽस्ति कुटुम्बवर्गः ।
मोहोऽस्ति पापी मदिरासमानो, मायास्ति दुष्टा बकवत्सदैव ॥१२१॥
पिशाचतुल्यानि भुवीन्द्रियाणि, वन्हेः समानः खलु नोकषायः ।
सदैव चिंता क्षयरोगतुल्या, क्रोधोऽपि नीचोऽस्ति रिपोः समानः ॥१२२॥
आशापि जन्तोः खलु लोकतुल्या, मानोऽस्ति लोके कलहस्य कोशः ।
ग्रस्ता ग्रहैर्ये भुवि ते सदैव, कदापि शान्तिं न सुखं लभन्ते ॥ १२३ ॥

उत्तर.—यह मनुष्योंका हृदय बंदरके समान चंचल है, कुटुंबके लोग सब डांसके समान चारों तरफसे भक्षण करने वाले हैं, यह पापी मोह मद्यके समान जीवोंको मोहित कर देनेवाला है, यह माया बगलाके समान सदा दुष्टता धारण करती रहती है, इस संसारमें इंद्रियां सब पिशाचके समान दुःख देनेवाली हैं, ये नोकषाय अग्निके समान सदा जलते रहते हैं, चिंता सदा क्षयरोगके समान कृश करती रहती है यह नीच क्रोध भी शत्रुके समान सदा दुःखी करता है। जीवोंकी आशा लोकाकाशके समान विशालरूप धारण कर भय दिखलाती है और यह मान भी संसारमें कलहका खजाना है। इस प्रकार जो मनुष्य इन मोह वा कषायरूपी

ग्रहोंसे ग्रसित रहते हैं उनको कभी भी सुख और शांति प्राप्त नहीं हो सकती ॥१२१॥१२२॥ ॥१२३॥

भो गुरो ! सन्ति के लोके चाण्डालसदृशा नराः ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमें चाडाल के समान मनुष्य कौन हे ?

द्रोही सुधीमांश्च मुनिः प्रकोपी, श्रीमांश्च लोभी मनुजोऽपि मानी ।
तत्त्वप्रलोपी चतुरोऽपि शास्त्री, मिथ्याप्रलापी निपुणोऽपि वाग्मी ॥ १२४ ॥
न्यायी तथा कौ जिनधर्मलोपी, विश्वासहीनः सुजनोऽपि पापी ।
एते मनुष्या निजधर्मबाह्या, श्चाण्डालतुल्या भुवि निंद्काश्च ॥१२५॥

उत्तरः—जो श्रेष्ठ बुद्धिमान् होकर भी विद्वानों से द्रोह वा ईर्षा करें तो वह भी चांडाल के समान है, जो मुनि होकर भी क्रोध करे तो वह चांडालके समान है, जो धनवान होकर भी लोभ करे वह भी चांडाल के समान है, जो मनुष्य होकर भी अभिमान करे वह भी चांडालके समान है, जो चतुर शास्त्री होकर भी तत्त्वोंका लोप करे वह भी चांडालके समान है, जो चतुर वक्ता होकर भी मिथ्याभाषण करता हो वह भी चांडालके समान है, जो पुरुष न्यायवान होकर भी जिनधर्मका लोप करता हो वह भी इस पृथ्वीपर चांडालके समान है, तथा जो श्रेष्ठ मनुष्य होकर भी विश्वासघात करे अथवा पापी बन जाय तो वह भी चांडालके समान समझा जाता है । ये ऊपर लिखे हुए मनुष्य अपने धर्मसे रहित है और इसी लिये

संसारमें निंदक और चांडालके समान समझे जाते हैं ॥ १२४ ॥ १२५ ॥

शरीरावयवानां भो शोभा कुत्रास्ति सद्गुरो ? प्रश्नः—हे श्रेष्ठ गुरो ! इस शरीरके अवयवोंकी शोभा किस किस कार्यमें समझी जाती है ।

गुर्वादिदेवस्य च दर्शनं स्या–, न्नेत्रस्य शोभा स्तवनं मुखस्य ।
शीर्षस्य शोभास्ति जिनप्रणामः, शास्त्रश्रुतिः स्याच्छ्रवणस्य शोभा ॥१२६॥
हस्तस्य शोभास्ति सुपात्रदानं, पादस्य शोभा जिनतीर्थयानं ।
कुक्षेश्च शोभा विधियुक्तभुक्तिः, कंठस्य शोभा जिनकीर्तिगानम् ॥१२७॥
ज्ञानस्य शोभास्ति निजात्मबुद्धिः, ज्ञात्वेति सम्यक् सकलं सुगात्रम् ।
यथोक्तकार्ये सुखशांतिमूले, भव्यैः शिवार्थं खलु योजनीयम् ॥१२८॥

उत्तर.—देव और गुरुके दर्शन करना नेत्रोंकी शोभा है, देव गुरुकी स्तुति करना मुखकी शोभा है, भगवान् जिनेंद्रदेवको प्रणाम करना मस्तककी शोभा है, भगवान् जिनेंद्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंका सुनना कानोंकी शोभा है, उत्तम पात्रोंको दान देना हाथोंकी शोभा है, जिनेंद्रदेवसे सुशोभित हुए जो तीर्थोंकी यात्रा करना पैरोंकी शोभा है, पेटकी शोभा विधिपूर्वक पवित्र भोजन करना है, कंठकी शोभा भगवान् जिनेंद्रदेवकी कीर्तिका गान करना है और ज्ञानकी शोभा अपने शुद्ध आत्मामें बुद्धिका लगना है । इस प्रकार शरीरके अवयवोंकी समस्त शोभा समझकर भव्य जीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सुख और

शांतिके कारण ऐसे ऊपर लिखे हुए कारणोंमें ही अपने समस्त शरीरके अवयवों को लगाना चाहिये ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

भो गुरो सद्गुरुः कीदृक् लोकेऽस्मिन् वद साम्प्रतम् ? प्रश्नः —हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि इस संसारमें सद्गुरु कैसे होते हैं ?

सुरक्षकत्वाद्गुरुरेव माता, सुशिक्षकत्वाच्च गुरुः पितैव ।
श्रीवर्द्धकत्वाद्गुरुरेव बंधुर्गुरुः सखा कौ हितचिन्तकत्वात् ॥ १२९ ॥
सौख्यप्रदत्वाद्गुरुरेव विष्णुर्ब्रह्मा गुरुः स्वात्मपदप्रबोधात् ।
चिन्तामणिर्वांछितवस्तुदानात्, तस्मै सदा सद्गुरवे नमोऽस्तु ॥ १३० ॥

उत्तर.—गुरु सब जीवोंकी रक्षा करते हैं इस लिये वे ही सब जीवोंकी माता हैं, सब जीवोंको शिक्षा देते हैं इस लिये गुरु ही पिता हैं, गुरु ही लक्ष्मी को बढाने वाले हैं इसलिये वे ही सब जीवोंके बंधु हैं, गुरु ही समस्त जीवोंका हित चिंतन करते रहते हैं इस लिये वे ही जीवोंके मित्र हैं, गुरु ही सब जीवों को सुख देते हैं इस लिये गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही शुद्ध आत्माका ज्ञान कराते हैं इस लिये गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही इच्छानुसार पदार्थोंको देनेवाले हैं इस लिये गुरु ही चिंतामणि रत्न हैं। अत एव ऐसे उन श्रेष्ठ गुरुओंको मैं बार बार नमस्कार करता हूं ॥ १२९ ॥ १३० ॥

हन्ति रक्षति जीवोंऽयं केन वा कारणेन भोः ? प्रश्नः—हे गुरो ! यह जीव किन किन

कारणोंसे अन्य जीवोंको मारता है वा उनकी रक्षा करता है ?

धनस्य मानस्य च जीवनस्य, कीर्तेश्च जिव्हारमणस्य हेतोः ।
परान् स्वयं हन्ति च हन्यतेऽपि, परेण यो रक्षति रक्ष्यते च ॥१३१॥
परान् स्वयं पुष्यति पोष्यते च, पतत्यरिं पातयति प्रयत्नात् ।
त्यक्त्वा स्वधर्मं निजबोधशून्यो, भ्रमेच्चिरं घोरभवार्णवेऽस्मिन् ॥१३२॥

उत्तरः—यह जीव धन, मान, जीवन, कीर्ति, जिव्हा, इंद्रियकी लोलुपता और स्त्रीसेवनके लिये दूसरे जीवोंको मारता है वा दूसरोंके द्वारा मारा जाता है। अथवा इन्हीं कामोंके लिये दूसरों की रक्षा करता है वा स्वयं दूसरेके द्वारा सुरक्षित रहता है अथवा इन्हीं कामोंके लिये दूसरोंका पालन पोषण करता है वा स्वयं दूसराके द्वारा पालन पोषण किया जाता है। अथवा इन्हीं कामोंके लिये यह जीव स्वयं पतित होता है वा दूसरोंको प्रयत्न पूर्वक पतित कराता है। इस प्रकार जो जीव अपने आत्मज्ञानसे शून्य है वह अपने धर्मको छोडकर इस संसाररूपी समुद्रमें चिरकालतक इसी प्रकार परिभ्रमण करता रहता है ॥१३१॥१३२॥

सज्जनानां स्वभावो वा कीदृशोऽस्ति गुरो वद ? प्रश्न—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि सज्जनोंका स्वभाव कैसा होता है ?

सतां न यत्नो भवति स्वदुःखे, परस्य दुःखस्य विनाशको हि ।
संसारकार्ये बिसिनीव वृत्ति—, र्निजात्मधर्मे मुनिवत्प्रवृत्तिः ॥१३३॥

तत्त्वप्रबोधः पतिवद्धि शच्याः, स्याद्वादवाणीव विचारशक्तिः ।
इत्येव संसारविनाशकोऽसौ, सतां विचारो भवति स्वभावात् ॥१२४॥

उत्तर:—सज्जन पुरुष अपने ऊपर दुःख आनेपर भी कभी उनके दूर करने का प्रयत्न नहीं करते, तथा दूसरों के दुःखोंका वे सदा नाश करते रहते हैं। सांसारिक भोग विलासोंमें वे कमलिनीके समान सदा अलग रहते हैं तथा अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें मुनियोंके समान प्रवृत्ति करते रहते हैं। उनका तत्वज्ञान इंद्राणीके पति इन्द्रके समान सर्वोत्कृष्ट होता है और उनकी विचारशक्ति स्याद्वादवाणीके समान सदा निर्मल और यथार्थ रहती है। इस प्रकार इस पृथ्वीपर सज्जनोंके विचार स्वभावसे ही संसारको नष्ट करनेवाले होते हैं ॥१२३॥१२४॥

गुरो ! केन प्रकारेण कर्मबंधो भवेन्न च ?

प्रश्न—हे गुरो ! जीवोंको किस प्रकार कर्मोंका बंध नहीं हो सकता ?

सम्यक् समित्या निजबोधदृष्ट्या, विलोक्य रक्षन्नसुधारिणोऽन्यान् ।
सदैव कुर्वन्निजरूपशुद्धिं, तथैव चान्यानपि कारयंश्च ॥१२५॥
भाषेत चासीत शयीत गच्छेद्, भुंजीत वर्तेत पिबेद्यथावत् ।
खादेन्निजानंदरसं च येन, स्वर्मोक्षलक्ष्मीश्च भवेत्स्वदासी ॥१२६॥

उत्तर:—जो जीव श्रेष्ठ समितियोंके द्वारा अथवा ज्ञानरूपी नेत्रोंसे अच्छीतरह देखकर अन्य समस्त जीवोंकी रक्षा करते हैं, जो अपने आत्माकी शुद्धीको सदा करते रहते है और

अन्य जीवोंसे भी कराते रहते हैं, जो शास्त्रानुकूल वचन बोलते हैं, शास्त्रानुकूल बैठते हैं, शास्त्रानुसार सोते हैं, शास्त्रानुसार चलते हैं, शास्त्रानुसार आहार लेते हैं, शास्त्रानुसार ही अपना वर्ताव करते हैं और शास्त्रानुकूल ही पानी पीते हैं और आत्मजन्य आनंदामृतरसका स्वाद लेते रहते हैं ऐसे पुरुषोंके लिये स्वर्ग और मोक्ष भी दासीके समान हो जाता है फिर भला उनके कर्मोंका बंध कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

भगवन् कोऽस्ति लोकेऽस्मिन् ब्रह्मा विष्णुर्महेश्वरः ? प्रश्न—हे भगवन् ! इस संसार में ब्रह्मा कौन है, विष्णु कौन है और महादेव कौन है ?

योऽनन्तबोधो भुवने स विष्णुः, ब्रह्मा स एवास्ति निजात्मनिष्ठः ।
यः कर्ममुक्तो जगदीश्वरः स करोति मोक्षे निजमेव राज्यम् ॥ १३७ ॥
कर्मद्विषो यः प्रविजित्य जातो, लोके महादेव इति प्रसिद्धः ।
स एव वंद्योऽस्ति नरामरेन्द्रै रन्यो न पूज्यो न च कोऽपि वंद्यः ॥ १३८ ॥

उत्तर.—इस संसारमें जो अनतज्ञानी भगवान जिनेंद्र देव हैं वे ही विष्णु हैं तथा अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहनेवाले वे ही भगवान जिनेंद्र देव ब्रह्मा हैं । जो कर्मोंसे सर्वथा रहित हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी जगदीश्वर वा महादेव हैं जो कि मोक्षस्थानमें विराजमान होकर अपना स्वात्मजन्य स्वराज्य कर रहे हैं । इस संसारमें महादेव उन्हीं को कहते हैं जो कर्मरूपी शत्रुओंको जीतकर तीनों लोको मे प्रसिद्ध हुए हैं। अतएव वे ही ब्रह्मा, विष्णु और महादेव, इंद्र,

चक्रवर्ती आदिके द्वारा वदनीय हैं। इन अरहंत और सिद्ध परमेष्ठीके सिवाय अन्य कोई भी ब्रह्मा विष्णु वा महादेव पूज्य और वदनीय नहीं है ॥ १३७ ॥ १३८ ॥

कोऽसौ दीनोऽस्ति लोकेऽस्मिन् हे गुरो ! कथयाधुना ? प्रश्न.—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि इस ससार में दीन कौन है ?

पाखंडिलिंगे गृहिलिंगधर्मे, पापस्य बीजे विषये च पापी।
यः स्वात्मबाह्ये परवस्तुरूपे, करोति मोहं भुवि सोऽस्ति दीनः॥१३९॥

उत्तर—जो पापी मनुष्य पाखडको धारण करनेवाले कुगुरुओं मे, गृहस्थ अवस्थामें ही धर्मकी पूर्णता माननेवालोंमे, पापोंका कारण ऐसे विषयों में और आत्मासे सर्वथा भिन्न ऐसे परपदार्थोंमे मोह करता है ससारमें वही मनुष्य दीन कहलाता है ॥ १३९ ॥

निजात्मनो निवासश्च हे गुरो ! क्वास्ति भूतले ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस ससारमें इस अपने आत्माका निवास कहाँ है ?

ये केपि जीवा विषयोद्भवाद्वा, भोगोपभोगाद्वपुषो विरक्ताः।
सन्तो हि गन्तुं स्वगृहं यतन्ते, कर्तुं स्वराज्यं स्वरसस्य पानम् ॥ १४० ॥
तेषां प्रवासो हि निजप्रदेशे, चैतन्यराज्ये च भवेन्निवासः।
अन्ते निवासः सततं भवेद्वा, कर्मप्रणाशात्सुखपूर्णमोक्षे ॥१४१॥

उत्तरः—जो कोई जीव इस विषम संसारसे भोगोपभोगोंसे और शरीरसे विरक्त हो गये हैं तथा जो आत्मजन्य स्वराज्य करनेके लिये और आत्मजन्य आनंदामृत रसका पान करने के लिये अपने मोक्षरूप घरके लिये जानेका प्रयत्न करते हैं उन जीवोंका प्रवास तो अपने आत्मा के प्रदेशमें समझना चाहिये और उनका निवास शुद्ध चैतन्यस्वरूप राज्यमें समझना चाहिये। अथवा अंतमें समस्त कर्मोंका नाश हो जानेपर सदाके लिये उनका निवास अनंत सुखसे परि-परिपूर्ण मोक्षस्थानमें समझना चाहिये ॥ १४० ॥ १४१ ॥

दैवस्य मुख्यता क्वास्ति किं वा पुण्येन जायते ?

प्रश्न.—हे गुरो ! दैवकी मुख्यता कहा समझनी चाहिये और पुण्यसे क्या क्या प्राप्त होता है

कृते विशिष्टेऽपि सति प्रयत्ने, कार्यस्य सिद्धिर्न भवेयदा हि।
दैवं प्रधानं खलु तत्र बोध्यं, बुधैश्च गौणं पुरुषार्थकार्यम् ॥१४२॥
पुण्येन वा सर्वधनं सुराज्यं, पुण्येन वा पुत्रकलत्रबंधुः।
ज्ञात्वेति कुर्वन्तु सदैव पुण्यं, कदापि धर्मान्न चलन्तु धीराः ॥१४३॥

उत्तरः—यदि विशेष और अधिक प्रयत्न करनेपर भी कार्यकी सिद्धि न हो तो वहांपर विद्वान् लोगोंको दैव ही प्रधान समझना चाहिये और पुरुषार्थको गौण समझना चाहिये। इस संसारमें पुण्यसे ही समस्त धन और श्रेष्ठ राज्यकी प्राप्ति होती है और पुण्यसे ही. पुत्र, स्त्री, भाई, बंधुओंकी प्राप्ति होती है। यही समझकर विद्वानों को सदा पुण्य उपार्जन करते रहना

चाहिये और धर्मसे वीर पुरुषोंको कभी भी भ्रष्ट न होना चाहिये ॥१४२॥१४३॥

रत्नत्रयविहीनोऽयं जीवो भात्यत्र वा नवा ? प्रश्नः—जो जीव रत्नत्रयरहित है वह इस संसारमें शोभायमान होता है वा नहीं ?

जीवादितत्त्वेषु जिनागमे च, स्वात्मानुभूतौ न रुचिं करोति ।
न भाति लोके स विबोधहीनः, स्वाचारहीनो निपुणश्च कोऽपि ॥१४४॥

उत्तरः—जो कोई चतुर पुरुष भी जीवादिक तत्त्वोंका भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए आगमका और अपने आत्माकी स्वात्मानुभूतिका श्रद्धान नहीं करता है वह आत्मज्ञानरहित और सदाचाररहित समझा जाता है तथा वह इस संसारमें कहीं भी शोभा नहीं देता ॥१४४॥

लोके धर्मानुरागस्य भो गुरो ! कीदृशं फलम् ? प्रश्नः—हे गुरो इस संसारमें धर्मसे प्रेम करनेका फल क्या है ?

धर्मानुरागोऽपि परंपरेण, षट्खण्डराज्यस्य मनोहरस्य ।
पुत्रादिपौत्रस्य समीहितस्य, शक्रादिभूतेरपि दायकः स्यात् ॥१४५॥
स्वमोक्षदाता भवरोगहर्ता, स एव यावन्न भवेद्धि मोक्षः ।
ज्ञात्वेति भव्यैश्च जिनानुरागो, धर्मानुरागोऽपि सदैव कार्यः ॥१४६॥

उत्तर—धर्ममें गाढ प्रेम रखना परंपरासे छहों खंडके मनोहर राज्यको देनेवाला है, पुत्र पौत्र आदि इच्छानुसार विभूतियोंको देनेवाला है । इसीप्रकार यह धर्मानुराग स्वर्गमोक्षको

देनेवाला है और जबतक मोक्षकी प्राप्ती नहीं होती तबतक संसारके समस्त रोगोंको हरण करनेवाला है। यही समझकर भव्यजीवोंको भगवान् जिनेन्द्रदेवमें सदा अनुराग रखना चाहिये और उनके कहे हुए धर्ममें सदा अनुराग रखना चाहिये ॥ १४५ ॥ १४६ ॥

आर्यमर्त्यस्य कार्याणि कानि संति जगद्गुरो ? प्रश्नः—हे जगद्गुरो इस संसार में आर्यपुरुषोंके कार्य क्या हैं ?

निजात्मशुद्धिर्गुरुदेवसेवा, सुदानपूजा जिनतीर्थयात्रा ।
ध्यानोपवासश्च तपो जपोऽपि, स्वाध्यायशान्तिः स्वपरोपकारः ॥ १४७ ॥
सम्यक्प्रवृत्तिः कुलजातिरक्षा, विचारशक्तिर्निजतत्त्वचर्चा ।
आर्यस्य कार्याणि सुखप्रदानि, प्रोक्तानि चैतानि शिवप्रदानि ॥ १४८ ॥

उत्तरः—अपने आत्माकी शुद्धि करना, देव और गुरुकी सेवा करना, पात्रदान देना, देवपूजा करना, भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तीर्थोंकी यात्रा करना, ध्यान करना, उपवास करना, तप करना, जप करना, स्वाध्याय करना, शांति धारण करना, अपने आत्माका कल्याण करना, अन्य जीवोंका कल्याण करना, अपनी प्रवृत्ति यत्नाचारपूर्वक करना, अपने कुल और जातिकी रक्षा करना, तत्त्वोंके विचार करनेकी शक्ति रखना और अपने आत्मतत्त्वकी चर्चा करते रहना, ये सब सुख देनेवाले और मोक्षप्रदान करनेवाले शुभकार्य भगवान जिनेंद्रदेवने आर्यपुरुषोंके बतलाये हैं ॥१४७॥१४८॥

भो गुरो ! कीदृशो जीवो नरकं याति सत्वरम् ? प्रश्नः—हे गुरो ! कैसा जीव शीघ्र ही नरक पहुंचता है ?

अत्यंतकोपी कटुकप्रभाषी, धर्मस्य देवस्य गुरोर्विरोधी ।
धूर्तः शठः प्राणिवधे प्रवृत्तो, द्रोही च बंधोः कुलजातिलोपी ॥१४९॥
दानादिधर्मेषु सदा रतानां, सुश्रावकाणां खलु निंदको यः ।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्तः, स एव पापी नरकस्य गामी ॥१५०॥

उत्तरः—जो अत्यंत क्रोधी है कटुक भाषण करनेवाला है, जो देव, धर्म और गुरुका विरोधी है जो धूर्त हैं, मूर्ख है प्राणियोंकी हिंसामें सदा प्रवृत्त रहता है, जो अपने भाइ बंधुओंका द्रोही है; जो कुल और जातिका लोप करनेवाला है और जो दान, पूजा आदि धर्ममें सदा लीन रहनेवाले श्रेष्ठ श्रावकोंकी सदा निंदा करता रहता है; जिस जीवके ऊपर लिखे हुए भाव विद्यमान रहते हैं; वही जीव पापी और नरकगामी समझना चाहिये ॥ ॥ १४९ ॥ १५० ॥

तिर्यग्गतिं च को जीवो गुरो ! गच्छति भो वद ? प्रश्नः— हे गुरो ! यह बतलाइये कि तिर्यंच गतिमें कौनसा जीव जाता है ?

आचारहीनो हि विचारशून्यो, मिथ्याप्रलापी च बहुप्रमादी ।

अभक्ष्यभक्षी विपरीतवृत्ते, बहुन्नभोजी जिनधर्मबाह्यः ॥ १५१ ॥
दंभी च लोभी विषये निमग्नो, दानादिधर्माद्धि सदैव दूरः ।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्तः, स एव गंता च गतिं तिरश्चाम् ॥१५२॥

उत्तर—जो पुरुष आचाररहित है, विचाररहित है, सदा मिथ्या वकवाद करता रहता है, अत्यंत प्रमादी है, अभक्ष्य भक्षण करनेवाला है, अपनी प्रवृत्ति सदा धर्मसे विपरीत रखता है, जो अधिक अन्न भक्षण करनेवाला है जिनधर्म से पराङ्मुख है, मायाचारी है, लोभी है, विषयोंमें सदा लीन रहता है और दानपूजा आदि धर्मसे सदा दूर रहता है, जो जीव ऊपर कहे अनुसार अशुभ भावोंको धारण करता है उसे तिर्यंच गतिमें जानेवाला समझना चाहिये ॥ १५१ ॥ १५२ ॥

मनुष्ययोनिं को जीवो यातीति वद भो गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो ! मनुष्ययोनिमें जाकर कौनसा जीव उत्पन्न होता है ।

यः स्वल्पभोगी विमलप्रवृत्तिः, संसारभीरुश्च दयार्द्रचित्तः ।
विनीतवृत्तिः समशांतियुक्तो, धर्मप्रचारी च कुकर्मलोपी ॥ १५३ ॥
रुचिं विधत्ते गुरुदेवशास्त्रे, धर्मे सुदाने यजनेऽपि दक्षः ।
पूर्वोक्तभावैरीति यश्च युक्तः, स एव धीरो नरजन्मगामी ॥ १५४ ॥

उत्तरः—जो जीव बहुत ही कम लोभ करता है, जो अपनी प्रवृत्तिको सदा निर्मल

रखता है; जो ससारसे भयभीत है, जिसका हृदय सदा दयालु बना रहता है, जो सदा विनयपूर्वक रहता है, जो समता और शांतिको सदा धारण करता रहता है, धर्मका प्रचार करता रहता है, कुकर्मोंको नष्ट करता रहता है, देव शास्त्र गुरुमें सदा श्रद्धान धारण करता है, जो धर्म धारण करने, दान देने और पूजा करनेमें अत्यंत चतुर है। इस प्रकारके शुभ भावोंसे जो सुशोभित है वह धीरवीर मनुष्यगतिमें जाकर जन्म लेता है ॥१५३॥१५४॥

स्वर्गतिं कीदृशो जीवो याति भो सद्गुरो वद! प्रश्न —हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि स्वर्गगति में कैसा जीव जाता है ?

भोगाच्छरीराच्च भवाद्विरक्तो, देशव्रती वा सकलव्रती वा।
सम्यक्त्वयुक्तश्चरमांगहीनः, स्वाध्यायलीनस्तपसा प्रयुक्तः ॥१५५॥
निजात्मशुद्धिं स्वपरोपकारं, कर्तुं सदा संयतते प्रयत्नात्।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्तः, स एव भव्यो भुवि नाकगामी ॥१५६॥

उत्तर —जो मनुष्य संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त है, जो देशव्रती है वा सकलव्रती है, जो सम्यग्दर्शनसे सुशोभित है, परंतु जो चरमशरीरी नहीं है; जो स्वाध्यायमें लीन रहता है, तपश्चरणसे सुशोभित है और जो अपने आत्माकी शुद्धि, अपने आत्माका कल्याण तथा अन्य जीवोंका कल्याण करनेके लिये प्रयत्न पूर्वक सदा उद्योग करता रहता है। इस प्रकार जो ऊपर लिखे शुभ भावोंसे सदा सुशोभित रहता है वही भव्य स्वर्ग जानेवाला समझना चाहिये ॥१५५॥१५६॥

कीदृशः पुरुषो लोके मोक्षं गच्छति भो गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो! इस ससारमें कैसा मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है ?

महाव्रतं वा समितिं दधानो, निजत्मनिष्ठश्चरमांगधारी ।
कर्तुं स्वराज्यं यतते सदैव, स्वात्मानुभूत्यां स्वपदेऽस्ति लीनः ॥१५७॥
ध्यानेन शुक्लेन च कर्महंता, द्रष्टा प्रबोद्धा च निजात्मनो यः ।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्तः, स एव योगी भुवि मोक्षभागी ॥१५८॥

उत्तरः—जो मुनि महाव्रत वा समितिको धारण करता है जो अपने आत्मामें सदा निमग्न रहते है. चरमशरीरी हैं, जो मोक्षरूप स्वराज्य करनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं, स्वात्मानुभूति और स्वात्मपदमें सदा लीन रहते हैं, जो शुक्लध्यानके द्वारा कर्मोंको नाश करनेवाले हैं और अपने शुद्ध आत्माके ज्ञाता द्रष्टा है इस प्रकार जो मुनि शुद्धभावसे सुशोभित हैं वेही मुनि इस ससारमें मोक्ष जाते हैं ॥१५७॥१५८॥

लोके सुपात्रदानेन किं जीवो लभते फल ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस ससारमें सुपात्रदानसे जीवोंको क्या फल प्राप्त होता है ?

सुपात्रदानेन च सर्वजन्तो–, र्भवेत्सुपुत्रोऽपि पितापि माता ।
बंधुश्च भार्या भगिनी च पौत्रो, देहोऽप्यरोगी परमं बलायुः ॥१५९॥

षट्खण्डराज्यं धनरत्नपूर्णं, धर्मानुकूलो वरराज्यवर्गः ।
प्रभुत्वमाज्ञा भुवि मान्यतेति, बुद्धिः समर्था शमितुं भवाग्निम् ॥१६०॥
एतेऽपि सर्वे वरपुण्यपूरा, भवन्ति लोके समयानुसारः ।
सुपात्रदानस्य शिवप्रदस्य, सर्वोत्तमा वा महिमास्ति लोके

उत्तर —सुपात्रदान देनेसे इस संसारके समस्त जीवोंको सुपुत्र, पिता, माता, भाई, बहिन, स्त्री, पौत्र आदि पूर्ण कुटुंब प्राप्त होता है, शरीर निरोग रहता है, बल और आयु सर्वोत्तम मिलती है, धन और रत्नोंसे परिपूर्ण ऐसा छहो खंडका राज्य प्राप्त होता है श्रेष्ठ राज्य के समस्त अंग धर्मानकूल प्राप्त होते हैं। संसारमें प्रभुता, आज्ञा और मान्यता बढती है और श्रेष्ठ बुद्धि संसाररूपी अग्निको शांत करनेमें समर्थ होती है। इस प्रकार सुपात्रदान देनेसे समयके अनुसार इस संसारमें समस्त श्रेष्ठ पुण्यके समूह प्राप्त हो जाते हैं। अत एव कहना चाहिये कि मोक्ष देनेवाले इस सुपात्रदानकी महिमा इस संसारमें सर्वोत्तम मानी जाती है ॥ १५९ ॥ १६० ॥ १६१

धर्मं जहाति सद्दृष्टिर्निन्दया भो गुरो ! न वा ? प्रश्नः—हे गुरो ! सम्यग्दृष्टी पुरुष अपनी निंदा होनेपर धर्मको छोड देता है या नहीं ?

यथैव लोके सविता खरत्वम्, शशी च शीतं कुसुमं सुगंधम् ।
इक्षुश्च दुग्धं मधुरत्वमेवं, निम्बो कटुत्वं च विषं हि सर्पः ॥१६२॥

तोयं यथाधोगमनं च पापी, वक्रां गतिं नीचजनाः कदापि ।
अग्निर्यथौष्ण्यं कलहं विभावः, चैतन्यशक्तिं सकलोऽपि जीवः ॥१६३॥
स्पर्शादिवर्णं खलु पुद्गलोऽपि, कालोऽपि नित्यं परिवर्तनत्वम् ।
धर्मोऽप्यधर्मोऽपि गतिस्थितित्व–, माकाशमेवं ह्यवकाशदानम् ॥१६४॥
साध्वी सुशीलं सुनृपः सुनीतिं, साधुः स्वधर्मं न जहाति लोके ।
तथैव धर्म स्तवनिन्दनेन, सद्दृष्टिर्जीवो न जहाति भावात् ॥१६५॥

उत्तर—जिस प्रकार इस संसारमें सूर्य अपनी तीव्रताको नहीं छोडता चन्द्रमा अपनी शीतताको नहीं छोडता, पुष्प सुगंधको नहीं छोडता, ईख और दूध मधुरताको नहीं छोडता, नीम कडवेको नहीं छोडता, सर्प विषको नहीं छोडता, पानी नीचगति (नीचेकी ओर जाना) को नहीं छोडता, पापी नीच मनुष्य अपनी कुटिलताको नहीं छोडता, अग्नि उष्णताको नहीं छोडती, वैभाविक परिणाम कलहको नहीं छोडता, समस्त जीव चैतन्यशक्ती को नहीं छोडते पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्णको नहीं छोडता, काल अपने परिवर्तन स्वभावको नहीं छोडता, धर्मद्रव्य गतिहेतुत्वको नहीं छोडता, अधर्मद्रव्य स्थितिहेतुत्वको नहीं छोडता, आकाश अवकाशदानको नहीं छोडता, सती स्त्री अपने शीलको नहीं छोडती, उत्तम राजा अपनी श्रेष्ठ नीतिको नहीं छोडता और साधु पुरुष अपने अपने धर्मको नहीं छोडते उसी प्रकार इस संसारमें सम्यग्दृष्टि पुरुष भी स्तुति वा निंदा करनेपर भी अपने धर्मको क[illegible] [illegible]हीं छोडते हैं ॥१६२–१६५॥

कुर्वन्त्यकार्यं किं लोके स्वात्मज्ञानपराङ्मुखाः ? प्रश्नः—जो मनुष्य अपने आत्मज्ञानसे पराङ्मुख हैं वे इस संसारमें कौन कौनसे अकार्य करते हैं ?

विज्ञानशून्या नरजन्मरत्नं, लब्ध्वापि चानन्दपदप्रदं हि ।
क्लेशादियुक्ते विषये भवाब्धौ, क्षिपन्ति दीनाश्च कुटुम्बहेतोः ॥ १६६ ॥
चिन्तामणेः कल्पतरोः समानं, श्रीजैनधर्मं मनुजोऽपि लब्ध्वा ।
सुरक्षणार्थं स्मरकुंजरस्य, रत्नत्रयं सौख्यमयं त्यजन्ति ॥ १६७ ॥
सद्बुद्धिरत्नं हि धनार्जनार्थं, नियोजयन्ति व्यवहारकार्ये ।
विज्ञानहीना इह जीव लोके, किं किं न कुर्वन्ति कुकर्मकार्यम् ॥१६८॥

उत्तरः—जो मनुष्य आत्मज्ञानशून्य हैं और इसीलिये जो दीन कहलाते हैं वे मनुष्य आत्मजन्य आनंदामृतको देनेवाले मनुष्यजन्म रूपी रत्नको पाकर भी केवल अपने कुटम्बको पालन पोषण करनेके लिये अनंत क्लेशोंसे भरे हुए और अत्यंत विषम एसे संसाररूपी समुद्रमें उस मनुष्यजन्मको डुबो देते हैं पुरा कर देते हैं। उस मनुष्य जन्ममें भी चिंतामणि रत्न और कल्पवृक्षके समान अनंतसुख देनेवाले रत्नत्रयरूप श्रीजैनधर्मको पाकर उसे केवल कामदेव रूपी हाथीकी रक्षा करनेके लिये छोड देते हैं। इसी प्रकार श्रेष्ठ ज्ञानरूपी रत्नको पाकर उसे धन कमानेके लिये लगा देते हैं। अतएव कहना पडता है कि आत्मज्ञान-शून्य मनुष्य इस संसारमें क्या क्या अकार्य नहीं करते है अर्थात् सबतरहके अकार्य कर डालते हैं ॥ १६६ ॥ १६७ ॥ १६८ ॥

मिथ्यात्वं कीदृशं लोके सम्यक्त्वं वा गुरो वद ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमें सम्यग्दर्शन कैसा है और मिथ्यात्व कैसा माना जाता है ?

सम्यक्त्वमेवास्ति शिवप्रदं हि, संसारमूलस्य विनाशकं च ।
क्रोधस्य लोभस्य सुशामकं तत् , मनोविकारस्य भवप्रदस्य ॥१६९॥
मिथ्यात्वमेवास्ति भवप्रदं हि, निरोधकं मोक्षसुखादिकस्य ।
आशापिशाचस्य विवर्धकं तत् , संसारवह्नेर्विपरीतबुद्धेः ॥१७०॥

उत्तर.—इस संसारमें सम्यग्दर्शन मोक्ष देनेवाला है, जन्ममरणरूप संसारके कारणो को नाश करनेवाला है, क्रोधको शांत करने वाला है. लोभको नष्ट करनेवाला है और संसारको बढानेवाले मनके विकारोंको नाश करनेवाला है। इसीप्रकार मिथ्यादर्शन जन्म मरण रूप संसारको बढानेवाला है, स्वर्गमोक्ष के सुखोंको रोकनेवाला है, आशारूपी महापिशाचको बढानेवाला है, संसाररूपी अग्निको बढानेवाला है और बुद्धिको विपरीत कर देनेवाला वा विपरीत बुद्धिको बढानेवाला है १६९ ॥ १७० ॥

सद्दृष्टेर्विपरीतस्य प्रवृत्तिः कीदृशी प्रभो ! प्रश्नः—हे प्रभो ! सम्यग्दृष्टी और उसके विपरीत मिथ्यादृष्टीकी प्रवृत्ति कैसी होती है ?

मिथ्यात्वमूढस्य परत्मबुद्धिः, मिथ्याप्रपंचो विपरीतवृत्तिः ।
भवेत्सुदृष्टेश्च निजात्मबुद्धिः, सम्यक्प्रवृत्तिः स्वपदे निवासः ॥१७१॥

जानती, सिंह पशुओंके हिताहितको नहीं जानता । इसीप्रकार चोर श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुषों-के हिताहितको कभी नहीं जानते और पापी बलवान् पुरुष इस पृथ्वीपर निर्बलोंके हिताहितको नहीं जानते, अथवा धनवान पुरुष निर्धनोंके हिताहित को नहीं जानते, और कुधर्मी पुरुष धर्मानुष्ठानोंके हिताहित को कभी नहीं जानते । इसीप्रकार कृपण पुरुष अपने प्राणोंका भी हिताहित नहीं जानते और स्वार्थी पुरुष किसीके हिताहितको नहीं जानते। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुष अपने आत्माके हितको भी नहीं जानते और चारित्रमोहनीय का उदय होनेपर सम्यग्दृष्टि जीव भी अपने आत्माका हित नहीं जानते। अतएव भगवान जिनेन्द्रदेव इन जिवोंको हिताहितका ज्ञान प्रगट करानेवाली सुबुद्धि सदा देते रहें ॥ १७५—१७८ ॥

"भवत्यवर्णवादात्किं जिनादीनां गुरो वद ? प्रश्नः—हे गुरो ! जिनेंद्रदेव आदि के अवर्ण-वाद करनेसे क्या होता है सो बतलाइये ?

अवर्णवादान्नरको जिनस्य, भवेद्धि साधोरपवादयोगात् ।
धर्मस्य भूपस्य च निंदया वा, भ्रान्तिर्भवे स्यान्निजमृत्युरेव ॥१७९॥
भीमे भवाब्धौ भ्रमणं भवेद्धि, पूजा सुदानस्य च निंदया वा ।
शुद्धात्मनस्तत्त्वविचिन्तनस्य, प्रणिंदयाशांतिरगाधाचिन्ता ॥१८०॥

उत्तर:—भगवान् जिनेंद्रदेवका अवर्णवाद वा निंदा करनेसे नरककी प्राप्ति होती है, इसी प्रकार साधुकी निंदा करनेसे भी नरककी प्राप्ति होती है, धर्मकी निंदा करनेसे संसारमें

परिभ्रमण करना पडता है. राजाकी निंदा करनेसे अपनी मृत्यु होती है, भगवान् जिनेंद्रदेवकी पूजा और पात्रदानकी निंदा करनेसे अत्यंत भयानक ऐसे संसाररूपी समुद्रमें परिभ्रमण करना पडता है, शुद्ध आत्मा की निंदा करनेसे आत्मामें भारी अशांति वढ जाती है तथा तत्त्व-चिंतन वा ध्यानकी निंदा करनेसे अगाध चिंता बढ जाती है ॥१७९॥१८०॥

नरत्व प्राप्य किं लोके करणीयं जनैर्गुरो ! प्रश्न — हे गुरो ! इस संसारमें मनुष्यजन्म को पाकर लोगोंको क्या करना चाहिये ?

पुण्योदयादेव नृजन्म लब्ध्वा, भव्यैः प्रमादः स्वपदे न कार्यः ।
कुटुम्बवर्गे सकलेऽपि नष्टे, षट्खण्डराज्ये सुमनोहरेऽपि ॥१८१॥
स्वाध्यायधर्मे यजने सुदाने, ध्याने सुकार्येऽपि सदा पवित्रे ।
ज्ञात्वेति शीघ्रं निजसाधने हि, नियोजनीया स्वपदे सुबुद्धिः ॥१८२॥

उत्तरः—भव्य जीवोंको अपना समस्त कुटुंब वर्ग और मनोहर श्रेष्ठ छहो खंडका राज्य आदि सर्वस्व नष्ट होनेपर भी पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त हुए इस मनुष्यजन्मको पाकर अपना आत्मकल्याण करनेमें—शुद्धात्माकी प्राप्ति करनेमें कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। इसी वातको अच्छीतरह समझकर भव्य जीवोंको अपनी सुबुद्धि स्वाध्यायमें, धर्ममे, पूजामें, पात्रदानमें, ध्यानमें अन्य पवित्र पुण्यकार्यों म, आत्माको शुद्ध करनेके साधनों में और शुद्ध आत्मामें सदा के लिये बहुत शीघ्र लगा देनी चाहिये ॥१८१॥१८२॥

तत्त्वविज्ञानशून्यः क्व जनो भ्रमति नृत्यति ? प्रश्न.—हे प्रभो ! तत्त्वज्ञानरहित मनुष्य कहां कहां भ्रमण करता है और कहां २ नृत्य करता है ?

अस्यास्मि कर्ता हि ममेदमेव, कार्यं च नेता जनबांधवानाम् ।
भृत्या ममैते भुवनं च राज्यं, मिथ्यात्वदोषादिति मन्यमानः ॥१८३॥
सन् स्वात्मशून्यो जिनधर्मबाह्यः, सदैष जीवो विकलो वराकः ।
भ्रमत्यचिन्त्ये विषमे भवाब्धौ, क्लेशप्रदे नृत्यति कर्मजाले ॥१८४॥

उत्तर:—मैं इस कामका करनेवाला हूं, यह काम मेरा है, मैं अपने कुटुंब परिवारका नेता हूं, ये मेरे सेवक हैं और यह देश तथा राज्य मेरा है । इस प्रकार मिथ्यात्वके दोषसे माननेवाला आत्मज्ञानरहित, जिनधर्मरहित नीच और व्याकुल यह जीव जो चिंतन करनेमें भी न आवे ऐसे क्लेश देनेवाले और विषम–संसाररूपी समुद्रमें परिभ्रमण किया करता है और कर्मोंके जालमें सदा नृत्य किया करता है ॥१८३॥१८४॥

भो गुरो ! नरकाद्यायुर्बध्यते केन हेतुना ? प्रश्न:—हे गुरो ! नरकादिक आयु का बंध किन किन कारणोंसे होता है ?

श्वभ्रस्य चायुर्बहुजीवघातै, रायुस्तिरश्चां कुटिलैः कुभावैः ।
मिश्रैर्नराणां च शुभैः सुराणां, निजात्मबाह्यैः सकलैश्च जीवैः ॥१८५॥

भ्रांतिप्रदं क्लेशकरं यदायु, स्तद्बध्यते मोहविशेषतो हि ।
पूर्वोक्तभावैः खलु यश्च मुक्तः, स बध्यते नैव कदापि काले ॥१८६॥

उत्तरः—अधिक जीवोंकी हिंसा करनेसे नरक आयुका बंध होता है, कुटिल और अशुभ परिणामोंसे तिर्यंचायुका बंध होता है, शुभ अशुभ मिले हुए परिणामोंसे मनुष्यायुका बंध होता है और शुभपरिणामोंसे देवायुका बंध होता है। इस प्रकार आत्मज्ञान—रहित संसारी समस्त जीव आयुकर्म का बंध करते रहते हैं। संसारमें परिभ्रमण करानेवाले और दुःख देने वाले आयु कर्मका बंध प्रायः मोहकी विशेषतासे होता है और इसीलिये जो जीव ऊपर कहे हुए भावोंसे सर्वथा रहित है वह किसी समयमें भी कर्मोंका बंध नहीं करता है॥१८५॥१८६॥

सम्यक्त्वयुक्ता जानन्ति स्वकीय-दर्शनं न वा ? प्रश्न —सम्यग्दृष्टि जीव अपने सम्यग्दर्शन को जानते हैं या नहीं।

ध्रुवं स्वसम्यक्त्वरविं सुभव्या, स्वबोधनेत्रैः प्रविलोकयन्ति ।
वैराग्यसंवेगशुभस्वभावा— च्छ्रद्धादिचिह्नैश्च तथा परेषाम् ॥१८७॥

उत्तरः—भव्य जीव अपने सम्यग्दर्शन रूपी सूर्यको अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंसे देखते हैं अथवा वैराग्य, संवेग, शुभस्वभाव और श्रद्धा आदि चिन्होंसे भी जानलेते हैं। इसीप्रकार वैराग्य, संवेग, शुभस्वभाव और श्रद्धा आदि चिन्होंसे दूसरोंके सम्यग्दर्शनको भी जानलेते हैं ॥१८७॥

क. सुपुत्रः कुपुत्रो वा भो गुरो ! वद साम्प्रतम् ? प्रश्नः—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि सुपुत्र कौन है और कुपुत्र कौन है ?

पूजादिदाने स्वपरोपकारे, धर्मार्जने यस्य सदा प्रयत्नः ।
स्ववंशवृद्ध्यै यतते स्वयं यो, निजात्मसिध्यै जिनधर्मवृध्यै ॥ १८८ ॥
स एव लोके सुजनः सुपुत्रो, विश्वस्य हर्षाय यथैव मेघः ।
पूर्वोक्तकार्यस्य च यो विरोधी, स एव पापी कुटिलः कुपुत्रः ॥ १८९ ॥

उत्तरः—जो पुरुष देवपूजा करने और पात्रदान देनेके लिये सदा प्रयत्न करता रहाता है, तथा अपने आत्माका कल्याण और अन्य जीवोंका कल्याण करनेका प्रयत्न करता है, इसीप्रकार जो अपने वंशकी वृद्धि करनेके लिये, अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये और जिनधर्मकी वृद्धि करनेके लिये सदा प्रयत्न करता रहता है वही सज्जन पुरुष इस संसारमें सुपुत्र कहलाता है । जिसप्रकार मेघकी वर्षासे समस्त संसार हर्षित होता है उसीप्रकार उस सुपुत्रसे समस्त संसार हर्षित होता है । तथा जो पुरुष इन ऊपर लिखे कार्योंसे विरोध करता रहता है वह कुटिल और पापी कुपुत्र कहलाता है ॥ १८८ ॥ १८९ ॥

चतुर्गतिभयं कस्माद्भवति वद भो गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि चारों गतियों को किससे भय लगता है ?

अनीतियुक्तस्य भयं सुनीतेः कुज्ञानजालस्य भयं सुबोधात् ।
जीवस्य मिथ्यात्वयुतस्य भीतिः, सम्यक्त्वसूर्याच्च खलस्य साधोः १९० ॥

उन्मत्तमार्गस्य भयं भवेद्वा, स्वाचारमार्गात्कुसृतेः सुमार्गात् ।
स्वात्मानुभूतेश्च चतुर्गतीनां, स्वस्थानवासाद्विपदस्य भीतिः ॥ १९१ ॥

उत्तरः—जो पुरुष अनीति करता रहता है उसको श्रेष्ठ नीतिसे सदा भय लगता रहता है, इसीप्रकार मिथ्या ज्ञानके समूहको सम्यग्ज्ञान से भय लगा रहता है, मिथ्यादृष्टि जीवको सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यसे भय लगा रहता है, दुष्टको सज्जनसे भय लगा रहता है मिथ्या चारित्रके मार्गको सम्यक्चारित्रके मार्गसे भय लगा रहता है। कुमार्गको सुमार्ग से भय लगता है, चारों गतियोंको स्वात्मानुभूतिसे भय लगता है और अपने आत्मस्थानमें न रहनेवाले लोगों को अपने आत्मा में निवास करनेवालोंसे सदा भय लगा रहता है ॥१९०॥१९१॥

कोऽसौ सारा धनादीनां लोके वा कथ्यते जनैः ? प्रश्नः—इस संसारमें लोग धनादिकका सार क्या समझते हैं ?

व्ययः सुपात्रे हि धनस्य सारो, बुद्धेश्च सारोऽस्ति निजात्मबोधः ।
व्रतादिकानां सुखशांतिदानां, देहस्य सारो ग्रहणं यथावत् ॥१९२॥
मुखस्य सारो जिनशास्त्रपाठः, संसारबंधत्यजनं हि लोके ।
नृजन्मसारो ह्यवगम्य चैवं, पूर्वोक्तरीतिः खलु पालनीया ॥१९३॥

उत्तरः—धनका सार वा फल सुपात्रोंमें खर्च करना है, बुद्धिका सार अपने आत्माका ज्ञान है, शरीरका सार सुख और शांति देनेवाले व्रतादिकोंका ग्रहण करना है, मुखका सार

भगवान् जिनेंद्र देवके कहे हुए शास्त्रोंका पाठ करना है और मनुष्यजन्मका सार इस संसार में संसारके बंधनोंका त्याग करना है । इस प्रकार समझकर ऊपर लिखे अनुसार रीतिका पालन करना चाहिये, अर्थात् सबका सारभाग ग्रहण करना चाहिये ॥१९२॥१९३

मूर्खोऽसाधुर्दरिद्री कः को वा दासश्च कथ्यते ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमें कौन मूर्ख है, कौन असाधु है, कौन दरिद्री है और कौन दास है ?

सुपात्रदानेन विना धनाढ्योऽ, प्यत्यन्तपापी च सदा दरिद्री ।
स्वात्मानुभूत्या स्वपदेन हीनो, यः साधुरेवापि भवेदसाधुः ॥१९४॥
मूर्खोऽस्ति विद्वानपि धर्मशून्यो, । यः स्वात्महीनो भुवि सोऽपि दासः ।
सद्ध्यानहीनो मृतवत्स जीवो, निजात्मसौख्यस्य विना हि दुःखी ॥१९५॥

उत्तरः—जो पुरुष धनाढ्य होकर भी सुपात्र दान नहीं देता है वह पुरुष अत्यत पापी और दरिद्री है जो साधु होकर भी अपने आत्माकी अनुभूतिसे रहित है तथा अपने आत्माकी रुचिसे रहित है उसको असाधु ही समझना चाहिये । जो विद्वान् होकर भी धर्मशून्य है उसको मूर्ख समझना चाहिये, जो पुरुष अपने आत्मगुणोंसे रहित है उसको दास समझना चाहिये । जो श्रेष्ठ ध्यानसे रहित है उसे मरेहुएके समान समझना चाहिये और जो पुरुष अपने आत्मसुखसे रहित है उसे महादुःखी समझना चाहिये ॥१९४॥१९५॥

शक्तोऽशक्तोऽस्ति को जीवस्त्रिलोके वद भो गुरो ! प्रश्न:—हे प्रभो ! अब यह बतलाइये कि इन तीनों लोको में कौन जीव समर्थ है और कौन असमर्थ है ?

य: प्राणिनां हिंसन एव दक्षः, पापी स शक्तोऽपि सदा ह्यशक्तः ।
कुंथ्वाद्यसूनां च नृणां पशूनां, दक्षः सदा पालनपोषणेऽपि ॥१९६॥
स शक्तिहीनोऽपि सदा सशक्तो, यः स्यात्कुसंकल्पविकल्पमुक्तः ।
स एव शक्तः सकलेऽपि विश्वे, वंद्यः स एवास्ति नरामरेन्द्रैः ॥१९७॥

उत्तरः—जो पुरुष प्राणियोंकी हिंसा करनेमें चतुर है वह पापी समर्थ होकर भी असमर्थ कहा जाता है । तथा जो मनुष्य कुंथु आदि छोटे छोटे जीवों की और पशु वा मनुष्योंकी रक्षा करने वा उनके पालन पोषण करनेमें सदा चतुर रहता है वह विना शक्तिकेभी सशक्त गिना जाता है । अथवा जो सबतरहके संकल्प विकल्पोंसे रहित है वह मनुष्य तीनों लोकोंमें सामर्थ्यवान गिना जाता है और वही मनुष्य इन्द्र चक्रवर्ती आदिके द्वारा वदनीय गिना जाता है ॥१९६॥१९७॥

परवस्तु सदा त्यक्तं केन जीवेन भो गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमें किस जीवने परपदार्थोंका त्याग कर दिया है ?

मुक्तोऽस्ति कोपादिचतुष्टये– र्यस्तेनैव मुक्तं परवस्तु सर्वम् ।
स एव लोके निजसाधकोऽस्ति, स्वर्मोक्षगामी सकलैश्च पूज्यः ॥१९८॥

उत्तरः—जिस मनुष्यने क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंका त्याग कर दिया है उसीने संसारके समस्त पर[illegible]थोंका त्याग कर दिया समझना चाहिये । तथा उसी मनुष्य

को अपने आत्माको सिद्ध करनेवाला, स्वर्गमोक्षमें जानेवाला और सब जीवोंके द्वारा पूज्य, समझना चाहिये ॥ १९८ ॥

कोसौ लोके ससंगोऽस्ति विसंगोऽस्ति च कः सुधीः ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमें परिग्रह सहित कौन है और परिग्रहरहित बुद्धिमान कौन है ?

यः कोऽपि मर्त्यः सुनिजात्मभावे, मौनेन युक्तः शुभध्यानलीनः ।
सम्यक्त्वयुक्तः सु कषायमुक्तो, ध्रुवं ससंगोपि विसंग एव ॥ १९९ ॥
यः कोपि संकल्पविकल्पयुक्तो, मौनेन युक्तोऽपि बहुप्रलापी ।
मिथ्याप्रपंचैः सहितश्च यः स । सदा विसंगोऽपि ससंग एव ॥२००॥

उत्तरः—जो मनुष्य अपने आत्माके शुद्ध परिणामोंमें लीन रहता है, जो मौन धारण करता है, शुभध्यानमें लीन रहता है, जो सम्यग्दर्शनसे सुशोभित है और कषायोंसे रहित है वह मनुष्य अवश्य ही परिग्रहसहित होनेपर भी परिग्रहरहित माना जाता है । तथा जो मनुष्य अनेक संकल्प विकल्प करता रहता है, मौन धारण करनेपर बहुत बोलता है और जो अनेक मिथ्याप्रपंच करता रहता है वह परिग्रहरहित होनेपर भी परिग्रहसहित ही कहा जाता है ॥ १९९ ॥ २०० ॥

किं फलं ध्यानस्वाध्यायदानभक्तिव्रतस्य च ? प्रश्नः—हे गुरो ! ध्यान, स्वाध्याय, दान, भक्ति और व्रतोंका फल क्या है ?

दत्तस्य दानस्य कृतेः कृताया, भक्तेः स्वसिद्धेः परिणामशुद्धे ।
व्रतोपवासस्य कृतस्य शक्त्या, ध्यानस्य योगस्य धृतस्य भक्त्या ॥२०१॥
श्रुतस्य शास्त्रस्य नतेः सुबुद्धे, स्तपोजपे मंत्रविधेः कृतस्य ।
सुपालितायाः समितेश्च गुप्तेः स्वाध्यायधर्मस्य सुसंयमस्य ॥२०२॥
मृत्योश्च काले भवदुःखदस्या, न्यवस्तुनो विस्मरणं च बंधोः ।
स्वानन्दपिण्डस्य निजात्मनो हि, चिन्मात्रमूर्तेः स्मरणं फलं हि ॥२०३॥

उत्तरः—हे वत्स ! भक्ति पूर्वक पात्रदान देनका, देवपूजा करनेका आत्माकी सिद्धि करनेका परिणामोंको शुद्ध रखनेका, शक्तिके अनुसार व्रत उपवास करनेका, भक्तिपूर्वक ध्यान धारण करने और योगधारण करनेका, शास्त्रोंके सुननेका नम्रता वा विनय धारण करनेका, श्रेष्ठ बुद्धिका, तपश्चरण करने, जप जपने और मंत्रोंकी विधियों के करनेका, समितियोंके पालन करनेका, गुप्तियोंके पालन करनेका, स्वाध्याय करनेका, धर्मधारण करनेका और संयम पालन करनेका फल, मरणके समयमें संसारके दुःखोंको देनेवाले अन्य समस्त पदार्थोंको भूल जाना, भाई बंधु आदि मोह बढानेवालोंका भूल जाना और चैतन्यस्वरूप अपने आत्मासे उत्पन्न हुए आनंदामृत पिंडका स्मरण करना समझना चाहिये ॥२०१॥ ॥२०२॥२०३॥

पूजितः पीडितः सद्भि खलै साधुः करोति किम् ? प्रश्नः—यदि कोई सज्जन साधुओंकी पूजा करता है वा कोई दुष्ट साधुओं को पीडा पहुंचाता है तो दोनों अवस्था में साधु क्या करते हैं ?

एकश्च साधोः क्षिपतीह कण्ठे, सर्पं द्वितीयश्च करोति पूजाम् ।
निंदां तृतीयोऽपि करोति पापी, स्तवं चतुर्थः प्रकटी करोति ॥२०४॥
करोति सेवां खलु पंचमोऽपि, खड्गेन षष्ठोऽथ वपुर्भिनत्ति ।
सर्वेऽप्यमी स्तावकनिंदका भोः, सुवंचकाः सन्ति यथार्थदृष्ट्या ॥२०५॥
ज्ञात्वेति धीराः रमते स्वधर्मे, स्थिरे निजानन्दपदे विशुद्धे ।
अत्यंतशुद्धे हि निजप्रदेशे, स्वर्मोक्षदास्तिष्ठति विश्ववन्द्यः ॥२०६॥

उत्तर—कोई एक पुरुष तो साधुके गलेमें सर्प डाल देता है, कोई दूसरा मनुष्य उनकी पूजा करता है, तीसरा कोई पापी आकर उनकी निंदा करता है, चौथा पुरुष आकर उनकी स्तुति करता है, पांचवा कोई पुरुष आकर उनकी सेवा करता है, अन्य छठा मनुष्य आकर अस्त्र शस्त्रोंसे उनके शरीरको छेद डालता है परंतु उन अवस्थाओंमें वे साधु यही समझते हैं कि इस पृथ्वीपर ये स्तुति वा निंदा करनेवाले सब लोग यथार्थ दृष्टिसे देखे जाय तो ठगनेवाले हैं । यही समझकर तीनों लोकोंके द्वारा वंदना करने योग्य और स्वर्ग मोक्ष देनेवाले वे धीरवीर साधु सदा स्थिर रहनेवाले अपने आत्मधर्म में क्रीडा करते हैं,

अत्यंत शुद्ध और अपने आत्मासे उत्पन्न हुए आनंदामृतपदमें क्रीडा करते हैं और अत्यंत शुद्ध ऐसे अपने आत्मप्रदेशोंमें स्थिर रहते हैं । ॥२०४॥२०५॥२०६॥

सुशीलानां सतां कीदृक् स्वभावोऽस्ति जगद्गुरो ! प्रश्नः—हे जगद्गुरो ! इस संसारमें शीलवती स्त्रियोंका तथा सज्जनोंका स्वभाव कैसा होता है ?

यथाम्रशाखी सहते शिलां च, क्षिप्तां व्यथादां हि तथापि तस्मै ।
स एव जीवाय फलं ददाति, मिष्टं सुपुष्टं हि मनोहरं च ॥२०७॥
अधौतदेहं मलिनं च वस्त्रं, नदी यथातीव शुचीकरोति ।
पूजादिदानस्य सुयोग्यमेव ददाति धेनुर्मधुरं पयो वा ॥२०८॥
नारी सुशीला सुजनो हि साधुः, सर्वं च दुःखं सहतेऽन्यदत्तम् ।
दत्तापवादं कृतरोषदोषं, कृतापमानं निजशान्तवृत्त्या ॥२०९॥
न केवलं यः सहते हि किंतु, तेषां हि चित्ते सुजनत्वबीजं ।
सुशीलबीजं सुजनः सुशीला, सद्बुद्धिबीजं वपतीति साधुः ॥२१०॥

उत्तरः—जिस प्रकार आम्रका वृक्ष नीचेसे फेंकी हुई और दुःख देनेवाली पत्थरकी चोटको सहता है तथापि वह वृक्ष उस पत्थर फेंकनेवाले पुरुषको मनोहर पौष्टिक और अच्छे मीठे फल देता है, तथा नदी भी शरीर धोनेवाले को और मलिन वस्त्रों को अत्यंत पवित्र कर

देती है, तथा गाय घास भूस खाती है और दान पूजाके योग्य दूध देती है। उसी प्रकार सुशीला स्त्री और सज्जन साधु दुसरोंके द्वारा दिये हुए सबतरहके दुःखोंको सहते हैं, जो कोई उनका अपवाद करता है, उनको दोष लगाता है, या उनपर क्रोध करता है वा उनका अपवाद करता हैं, उन सबको वह सुशील स्त्री और सज्जन साधु अपनी स्वाभाविक शांतवृत्तिसे सहन कर लेते हैं। वह सुशीला स्त्री और सज्जन साधु दूसरोंके दिये हुए दुःखोंको सहन करके ही नहीं रहजाते हैं किंतु उन दुःख देनेवालोंके हृदयमें सुशीलता और सज्जनताका बीज बो देते हैं तथा वही साधु उन दुष्टोंके हृदयमें श्रेष्ठ बुद्धिका बीज बो देते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा है ॥२०७॥२०८॥२०९॥२१०॥

स्वात्मा विलोक्यते चाक्षैः स्वात्मना मनसाथवा ? प्रश्नः—हे गुरो ! यह अपना आत्मा इन्द्रियोंके द्वारा देखा जाता है वा मनके द्वारा देखा जाता है अथवा अपने ही आत्माके द्वारा देखा जाता है ?

इंद्रियैर्मनसात्मानं ज्ञातुं द्रष्टुं सुखाय च। मूढा जना यतन्ते ये मुख्या मूर्खेषु ते मताः ॥२११॥ वाक्कायमानसाक्षैश्च पुद्गलानेव केवलम्। रसस्पर्शात्मकं द्रष्टुं ज्ञातुं वा शक्नुवन्ति च ॥२१२॥ चिन्मात्रमूर्तिमात्मानं नैव स्पर्शादिवर्जितम्। आत्मावलोकने ज्ञेयमात्मबोधे परोक्षतः ॥२१३॥ वाक्कायमानसाक्षाणां साहाय्यमात्रमेव च। आत्मना चात्मने चात्मात्मानमा-

त्मनि चात्मनः ॥ विलोकनं परिज्ञान भवेदेव स्वभावतः । यथा दीपस्य साहाय्याद् घटादिः प्रविलोक्यते ॥२१५॥ तथात्मनैव स्वात्मेति सिद्ध एव प्रमाणतः । मन्यते स्वात्मनिष्ठेन कुंथुसागरयोगिना ॥२१६॥

उत्तरः—मूढ बुद्धिको धारण करनेवाले जो पुरुष अपना आत्मसुख प्राप्त करनेके लिये इन्द्रिय और मनके द्वारा आत्माको देखना वा जानना चाहते हैं उन्हें मूर्खोंमें भी मुख्य समझना चाहिये। क्यों कि ये संसारी जीव मन वचन और इन्द्रियोंसे रूप रस गंध स्पर्श युक्त पुद्गलको ही देख वा जान सकते हैं, चैतन्य स्वरूप आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित है इसलिये उसको वे मन वचन काय वा इन्द्रियों से नहीं देख वा जान सकते। परोक्षरूपसे आत्माको देखने और जाननेमें मन वचन काय और इन्द्रियोंको सहायक मात्र समझना चाहिये। वास्तवमें देखा जाय तो यह आत्मा अपने आत्माके सुखके लिये अपने आत्मा को अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माके ही स्वभावसे देखता और जानता है। जिस प्रकार दीपककी सहायतासे घटादिक पदार्थ जाने जाते हैं उसी प्रकार यह आत्मा अपने ही आत्माके द्वारा जाना जाता है यह बात प्रमाणसे सिद्ध है। अपने आत्मामें लीन रहनेवाले मुनिराज कुंथुसागरजी भी इसी प्रकार मानते हैं ॥ २११—२१६

कीदृशं शस्यते ज्ञान जिनैर्वद जगद्गुरो!

प्रश्नः—हे जगद्गुरो! भगवान जिनेन्द्रदेव कैसे ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं?

मिथ्यात्वं क्षीयते येन स्वात्मतत्त्वं विबुध्यते। चित्तं निरुध्यते येन खतृष्णा

नाश्यते जवात् ॥२१७॥ येन शुद्धो भवेदात्मा येनाविद्या विनश्यति । येन प्रणाश्यते रागः स्वरसो येन पीयते ॥२१८॥ मैत्री प्रवर्त्यते येन द्रोहो लोभो विहन्यते । येनाशा हन्यते शीघ्रं स्वसुखं येन भुज्यते ॥२१९॥ संसारो मुच्यते येन स्थीयते स्वपदेऽचले । स्वर्मोक्षदैर्जिनैः प्रोक्तं ज्ञानं श्रेष्ठं तदेव हि ॥ २२० ॥ आहारं मैथुनं निद्रा भयं सर्वेषु विद्यते । सम्यग्ज्ञानेन मर्त्योऽयं शोभते तद्विना पशुः ॥

उत्तर.—जिस ज्ञानसे मिथ्यात्व नष्ट हो जाय, जिससे आत्मतत्वका ज्ञान हो जाय, जिससे मनकी चंचलता रुक जाय और जिस ज्ञान से शीघ्र ही इन्द्रियोंकी तृष्णा नष्ट हो जाय जिस ज्ञानसे आत्मा शुद्ध हो जाय, जिस ज्ञानसे अविद्या वा मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाय, जिससे राग नष्ट हो जाय, जिस ज्ञानसे शुद्ध आत्मजन्य आनन्दरसका पान होता रहे, जिस ज्ञानसे समस्त जीवोंमे मित्रता बढ जाय, जिससे लोभ और द्रोह नष्ट हो जाय, जिससे आशा शीघ्र नष्ट हो जाय, जिससे यह आत्मा शीघ्र ही अपने आत्मजन्य सुखको भोगता रहे, जिस ज्ञानसे यह जन्ममरण रूप संसार नष्ट हो जाय और जिस ज्ञानसे यह आत्मा अपने निश्चल शुद्ध आत्मामें लीन हो जाय, उस ज्ञानको स्वर्गमोक्ष देनेवाले भगवान जिनेन्द्रदेव श्रेष्ठ ज्ञान वा सम्यग्ज्ञान कहते हैं । आहार, निद्रा और भय ये सब जीवोंमें रहते हैं परंतु इस मनुष्यकी शोभा सम्यग्ज्ञानसे ही होती है । सम्यग्ज्ञानके विना यह मनुष्य पशुके समान समझा जाता है ॥ २१७–२२१ ॥

दानं ददाति यो नैव तस्य द्रव्यस्य का गतिः ? प्रश्न;—जो मनुष्य दान नहीं देता उसके धनकी क्या गति होती है ?

धनं लब्ध्वापि पुण्येन पित्रे मात्रे न धर्मिणे । न ददाति सुपात्राय स्वय मप्यात्ति नैव यः ॥२२७॥ कौ धनं पापिनस्तस्य शिलावत्प्रातिभाति मे । चौरो नयति राजा वा स्वयं नश्यति वा जवात् ॥२२३॥

उत्तरः—मनुष्य अपने पुण्यकर्म के उदयसे धनको पाकर भी माता पिता वा धर्मात्माके लिये नहीं देता, न सुपात्रदानमें उसे खर्च करता है और न स्वयं खाता पीता है उस पापी का धन गटे हुए पत्थरके समान समझना चाहिये । उस धनको या तो चोर चुरा ले जाते हैं अथवा राजा हरण कर लेता है, अथवा शीघ्र ही वह अपने आप नष्ट हो जाता है ॥ २२२ ॥

प्राप्य बोधिं न च घ्नन्ति कर्मारीन् कीदृशाश्च ते ? प्रश्न.—हे गुरो ! जो पुरुष रत्नत्रयको पाकर भी कर्मरूपी शत्रुओंका घात नहीं करते वे मनुष्य कैसे हैं ?

लब्ध्वापि दुर्लभां बोधिं संसारक्लेशनाशिनीम् । कर्मशत्रून् खलान् भीमान् ये जयन्ति न यत्नतः जेतुं ये प्रयतन्ते न न परान् प्रेरयन्त्यपि । इच्छानुसारदं लब्ध्वा चिंतारत्नं मनोहरम् ॥२२५॥ क्षिपन्त्येव भवाब्धौ वा कामधेनुं सुकामदाम् । त्यजन्ति गहनेऽरण्ये ये स्वकल्पानुसारदम् ॥२२६॥ कल्प

वृक्षं च लब्ध्वापि दहन्ति सहसैव ते । नृजन्मवल्लिमेवापि मन्ये छिन्दन्ति ते ध्रुवम् ॥२२७॥

उत्तरः—जो मनुष्य अत्यंत दुर्लभ और संसारके क्लेशोंको नाश करनेवाले रत्नत्रयको पाकर भी अत्यंत दुष्ट और भयंकर ऐसे कर्मरूप शत्रुओंको यत्नपूर्वक नहीं जीतते हैं अथवा उनको जीतने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करते हैं और न उनको जीतनेके लिये दूसरोंको प्रेरणा करते हैं वे मनुष्य इच्छानुसार फल देनेवाले मनोहर चिन्तामणि रत्न को पाकर भी उसे संसाररूपी समुद्रमें फेंक देते हैं । अथवा इच्छानुसार फल देनेवाली कामधेनुको गहन वनमें छोड देते हैं । अथवा कल्पनाके अनुसार फल देनेवाले कल्पवृक्षको पाकर भी बहुत शीघ्र उसे जला देते हैं । इसीप्रकार रत्नत्रयको पाकर कर्मोंको नष्ट न करनेवाले मनुष्य भी मनुष्यरूपी बेलको निश्चयसे तोड देते हैं ऐसा मैं समझता हूं ॥ २२४-२२७ ॥

सर्वशास्त्रं पठित्वापि धर्मश्रद्धां करोति न ॥ कीदृशः कथ्यते लोके भो गुरो ! वद साम्प्रतम् ? प्रश्नः—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि जो मनुष्य समस्त शास्त्रोंको पढकर भी धर्म की श्रद्धा नहीं करता है वह मनुष्य इस संसारमें कैसा गिना जाता है ?

शब्दशास्त्रं कलाशास्त्रं धर्मशास्त्रं सुखप्रदम् । सर्वं शास्त्रं पठित्वापि प्रमाणनयभूषितम् ॥२२८॥ न्यायाचार्योऽपि भूत्वा यः श्रेष्ठो मुनिरपि स्वयम् । सुधीमानपि वर्योऽपि पण्डितो निपुणोऽपि सन् ॥ व्यवहारमिह ज्ञात्वा नि-

श्रयं चापि वस्तुतः। षड्द्रव्याण्यपि बुध्द्वेति स्वतत्त्वमपि चिह्नतः॥ स्वात्मानुष्ठानमेवापि न करोति न चाचरेत्। श्रद्धानं जिनधर्मस्य स्वमोक्षदस्य भक्तितः॥२३१॥ नेत्रवानपि चान्धो हि, मूर्ख एव बुधोऽपि सः। विसंगोपि ससंगः स मन्येऽहं विधिवंचितः॥२३२॥ प्रतिभात्यात्मबाह्यो वा स दीर्घभवधारकः। करे धृत्वा यथा दीपमन्धकूपे पतेत्स्वयम्॥२३३॥

उत्तरः—जो मनुष्य व्याकरणशास्त्र, कलाशास्त्र, और सुख देनेवाले धर्मशास्त्रको पढकर भी तथा नय और प्रमाणोंसे सुशोभित ऐसे समस्त शास्त्रोंको पढकर भी तथा न्यायाचार्य होकर भी, स्वयं श्रेष्ठ मुनि होकर भी, अत्यंत बुद्धिमान होकर भी वा श्रेष्ठ और चतुर पंडित होकर भी, व्यवहार नयको जानकर भी वा यथार्थ निश्चय नयको जानकर भी अथवा छहों द्रव्योंको जानकर भी, जो अपने आत्माका अनुष्ठानका आचरण नहीं करते हैं अथवा स्वर्गमोक्ष देनेवाले जिनधर्मका भक्तिपूर्वक श्रद्धान नहीं करते हैं, वे नेत्रोंको धारण करते हुए भी अंधोंके समान हैं। विद्वान होते हुए भी मूर्ख है, परिग्रहरहित होकर भी परिग्रह सहित हैं। इसप्रकार वे अपने कर्मोंसे ठगे हुए हैं ऐसा मैं मानता हूं। वे लोग आत्मज्ञानके बाहर समझे जाते हैं अथवा दीर्घ संसारमें परिभ्रमण करनेवाले समझे जाते हैं। जिसप्रकार कोई मनुष्य हाथमें दीपक लेकर भी स्वयं अंधे कूएमें गिरता है उसी प्रकार उन लोगोंको महामूर्ख समझना चाहिये॥२२८–२३३॥

सज्जातिं च सुधर्मं वा त्यक्त्वा ये पुरुषाः स्वयम् । निजेच्छया प्रवतन्ते कीदृशा वद ते गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि जो पुरुष अपनी सज्जाति और श्रेष्ठ धर्मको छोडकर स्वयं इच्छानुसार प्रवृत्ति करते हैं वे कैसे हैं ?

त्यक्त्वा स्वर्मोक्षदं धर्मं श्रेष्ठां जातिं कुलं तथा । जनसंख्यादिवृद्ध्यर्थं विषयार्थं च केवलम् ॥२३४॥ यस्य कस्य समं याभिः काभिः कन्याभिरेव ये। कारयन्ति विवाहं चान्यायतोऽपि धनार्जनम् ॥ लज्जामपि परित्यज्य केवलोदरपूर्तये । यत्र कुत्रापि लब्ध्वान्नं गृह्णन्ति स्वाद्वभीप्सितं ॥ ते साक्षात् पतिताः सन्ति पशवः पापिन स्तथा । दुर्गतिं प्राप्य ते जीवाः सहन्ते तीव्रदुःखतां ॥

उत्तरः—जो लोग स्वर्ग मोक्ष देनेवाले धर्मको छोडकर, तथा श्रेष्ठ जाति और कुलको छोडकर, केवल विषय सेवन करनेके लिये अथवा जनसंख्याको बढानेके लिये जिस किसी पुरुषका जिस किसी कन्याके साथ विवाह करा देते हैं तथा अन्यायसे धनोपार्जन करते हैं और लज्जाको छोडकर केवल पेट भरनेके लिये जहां कहीं स्वादिष्ट और इच्छानुसार मिले हुए अन्नको खालेते हैं, वे मनुष्य साक्षात् पतित हैं, पशु हैं और पापी हैं। ऐसे जीव दुर्गतिको पाकर महातीव्रदुःख सहन करते रहते हैं ॥२३४–२३७॥

जनवृद्धिर्गुरो ! हेया किं लोके वद साम्प्रतम् । प्रश्न —हे गुरो ! क्या इस संसारमें जनवृद्धि त्याग करने योग्य है ? कृपाकर यह बतलाइये ।

वृद्धिर्धार्मिकमर्त्यानां वांछनीया सदा भुवि । सा तु धर्मोपदेशेन बोधामृतरसेन वा ॥२३८॥ मोक्षयोग्ये कुले कार्या जनवृद्धिः सदा नरैः । धर्मवृद्धिः कदाचिन्नोत्पन्नैर्विजातिसंकरैः ॥२३९॥

उत्तरः—इस संसारमें धार्मिक पुरुषोंकी वृद्धि सदा वाञ्छनीय है परंतु वह वृद्धि मनुष्योंको मोक्ष जाने योग्य कुलमें धर्मोपदेश देकर अथवा ज्ञानामृतके रसका पान कराकर करते रहना चाहिये । जो मनुष्य विजातिसंकर उत्पन्न होते हैं उनसे धर्मवृद्धि कभी नहीं हो सकती ॥२३८॥२३९॥

अक्रमेण च सेवन्ते सन्त्यर्थान् कीदृशाश्च ते ? प्रश्न—हे गुरो ! जो मनुष्य धर्म अर्थ काम आदि पुरुषार्थों को बिना क्रमके सेवन करते हैं वे मनुष्य इस संसारमें कैसे हैं ?

धर्मार्थादित्रिवर्गस्य सेवनं सत्सुखप्रदम् । प्रयत्नादविरोधेन सदेति कथितं जिनैः ॥२४०॥ ये पूर्वोक्तक्रमं त्यक्त्वा चलन्ति स्वेच्छया सदा । गृहस्था नहि योग्यास्तेऽभिभूयन्ते च भूतले ॥ केवलं धर्म एवास्ति मुख्यो मत्वेति मानवाः । सेवन्ते परमं धर्मं त्यक्त्वा कामं धनं तथा ॥२४२॥ दीक्षामादाय ते भव्याः कुर्वन्ति परमं तपः साधयन्ति च मोक्षं वा परमार्थं नरोत्तमाः ॥२४३॥ धनार्जनं प्रकुर्वन्ति त्यक्त्वा धर्मं च पापिनः । मूलमुत्पाट्य

ते मूढा इच्छान्ति फलमीप्सितम् ॥ धर्मं धनं परित्यज्य केवलं कामसेविनः । नश्यन्ति भूतले शीघ्रं हा सत्यंधर भूपवत् ॥२४५॥ तस्माद्धर्माविरोधेनोपार्जयन्तु धनं सदा । धनं धर्माविरोधेन सेवन्तां काममंगिनः ॥२४६॥ पालनीयश्चतुर्वर्गः श्रावकैरविरोधतः । यथा श्रावकवर्येण दयाधर्मादिमूर्तिना ॥ श्रीसत्यंधरपुत्रेण जीवकेन सुधीमता । सुन्यायनिपुणेनेव नृसिंहेन नृपेन्दुना ॥२४८॥

उत्तरः—धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारो पुरुपार्थ सुख देनेवाले हैं। इनको प्रयत्न पूर्वक और विरोध रहित सेवन करना चाहिये ऐसा भगवान जिनेंद्र देवने कहा है। जो लोग पूर्वोक्त क्रमको छोडकर इच्छानुसार इनका सेवन करते हैं वे योग्य गृहस्थ नहीं कहलाते तथा वे संसारमें तिरस्कृत होते हैं। जो मनुष्य केवल धर्म पुरुपार्थको ही मुख्य मानते हैं और अर्थ वा काम पुरुपार्थको छोडकर सर्वोत्कृष्ट धर्मका ही सेवन करते हैं वे उत्तम भव्य मनुष्य दीक्षा लेकर परम तपश्चरण करते हैं और परम पुरुपार्थरूप मोक्षको सिद्ध करलेते हैं। तथा जो पापी मनुष्य धर्मको छोडकर केवल धनोपार्जन करते हैं वे मूल वा जडको उखाडकर इच्छानुसार मीठे फल खाना चाहते हैं। इसीप्रकार जो पुरुष धर्म और धन दोनोंको छोडकर केवल काम सेवन करते हैं वे इस संसारमें राजा सत्यंधरके समान शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। इस लिये जिस प्रकार धर्ममें विरोध न आवे उसप्रकार धनको उपार्जन करना चाहिये। धन और धर्म दोनोंमें विरोध

न आवे उसप्रकार कामका सेवन करना चाहिये। श्रावकोंको जिसप्रकार परस्पर विरोध न आवे उसप्रकार इन पुरुषार्थोंका सेवन करना चाहिये। जो राजा जीवंधर उत्तम श्रावक था, दयाधर्म की मूर्ति था, बुद्धिमान था, मनुष्योंमें श्रेष्ठ था राजाओंमे चन्द्रमाके समान था, श्रेष्ठ न्यायमे निपुण था और राजा सत्यंधरका पुत्र था, उसने जिसप्रकार इन पुरुषार्थोंका सेवन कर अंतमें मोक्षपुरुषार्थ सिद्ध करलिया था उसप्रिकार सबको सेवन करना चाहिये ॥ २४०–२४८ ॥

कार्यं स्वास्पदयोग्यं वा ये कुर्वंति न कीदृशाः ? प्रश्नः—जो पुरुष अपने पदके योग्य कार्य को नहीं करते है वे कैसे हैं ?

स्वपदव्यनुसारेण जिनाज्ञाप्रतिपालकाः कुर्युः क्षमादिधर्मं हि दानं पूजां तपो जपम् ॥ त्यागं ध्यानोपवासं च वेषाद्याभूषणं पुनः। अवश्यं पालयेयुश्चाहिंसादिव्रतमुत्तमम् ॥२५०॥ स्वैरवृत्तिविनाशार्थं पूर्वाचार्या दयालवः। सर्वेषां हितहेतोश्च कथयन्ति मनीषिणः ॥२५१॥ मिथ्याज्ञानग्रहैर्ग्रस्ता आचार्योक्तवचोऽपि ये। न शृण्वन्ति न जानान्ति श्रुत्वापि पालयन्ति न ॥ गृहस्थकर्मणा ग्रस्ता जिनधर्मबहिःस्थिताः। ये चतुर्विधसंघानां भक्त्यार्हद्धर्मधारिणां देवशास्त्रगुरूणां न कुर्वंति भक्तिवन्दनां गृहस्थोचितकार्यं न कुर्वन्ति शांतिदायकम् ॥ विद्याधनादिहीनानां दुःखदूरसधार्मिणाम् न कुर्व-

न्ति च विद्वांसो जिनधर्मप्रभावनाम् ॥ स्थापनं पाठशालानां वाऽविद्यानाशहेतवे । गृहस्थमुख्यकार्यं वा कुर्वन्ति न धनार्जनम् ॥ प्रतिमाधारिणः केचित् केचिन्मूर्खा ह्युदासिनः । स्वपदव्याश्च्युताश्चैते स्वेच्छयाऽज्ञानतः स्वयम् ॥ मुनिक्रियां प्रकुर्वन्ति ब्रुवंतीति पुनश्च ये । मुनिभ्योऽपि वयं श्रेष्ठा वयं सद्दृष्टयो ध्रुवम् ॥ मन्यमानाः सदेत्येवं पापिष्ठाः क्लेशवर्धकाः । देवशास्त्रगुरूणां ये जिनेशवृषधारिणाम् ॥२५९॥ वा चतुर्विधसंघानां चैत्यालयादिकस्य ये तिरस्कारादिनिंदां वा श्रुत्वा दृष्ट्वापि चार्थतः ॥ धारयंति क्षमां मौनं वा भवंति ह्युदासिनः । जिनेन्द्रधर्मबाह्या हि ग्रस्ता मिथ्यात्वकर्मणा ॥ कौ गर्वेणोष्ट्रवच्चास्यं तिष्ठंत्युध्दृत्य पापिनः । मुनयोऽपि भवन्तो ये स्वाध्यायं स्वात्मचिंतनम् ॥ स्वरसस्य सदा पानमकृत्वा क्लेशनाशकम् । गृहस्थोचितकार्यं ये कुर्वंति दुःखवर्द्धकम् ॥ वैरादिवर्द्धकं कार्यं सदा कुर्वंति पापिनः । तेऽपि निजात्मबाह्या हि ग्रस्ता मिथ्यात्वकर्मणा ॥ सर्वेषां हितहेतोश्चानवस्थानाशहेतवे । प्रोक्तं त्रा शिष्टपुष्ट्यर्थं कुंथुनाम्ना सतेति हि ॥२६५॥

उत्तर:—जो मनुष्य भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं। अपने अपने

पदके अनुसार दान पूजा जप तप और उत्तम,क्षमादिक धर्मोंका पालन करते हैं । इसीप्रकार वे मनुष्य पापोंका त्याग करते हैं ध्यान उपवास करते हैं, वेष और आभूषण भी अपने पदके अनुसार पहनते हैं और अहिंसा आदि उत्तम व्रतोंको भी अवश्य पालन करते हैं इसप्रकार अत्यंत दयालु बुद्धिमान पूर्वाचार्य समस्त जीवोंका हित करनेके लिये और इच्छानुसार प्रवृत्तिका नाश करनेके लिये निरूपण करते हैं । तथापि मिथ्याज्ञानरूपी ग्रहसे घिरे हुए कितने ही ऐसे पुरुष हैं जो ऊपर लिखे हुए आचार्योंके वचनोंको न सुनते हैं न जानते हैं तथा सुनकर भी उनका पालन नहीं करते । जिनधर्मवहिर्भूत और गृहस्थधर्ममें लीन रहनेवाले कितने ही मनुष्य ऐसे हैं जो भक्तिपूर्व भगवान अरहंतदेवके कहे हुए धर्मको धारण करनेवाले चारों प्रकारके संघकी और देव शास्त्र गुरुओंकी भक्ति तथा वंदना नहीं करते हैं, न शांति देनेवाले गृहस्थोंके योग्य कार्योंको करते हैं । जो साधर्मी पुरुष विद्या वा धन आदिसे रहित हैं उनके दुःखोंको भी दूर नहीं करते, विद्वान् होकर भी जिनधर्मकी प्रभावना नहीं करते, अविद्या को नष्ट करनेके लिये पाठशालाओंकी स्थापना भी नहीं करते और जो धन कमाना गृहस्थों का मुख्य कार्य है उसको भी नहीं करते । इनमेंसे कितने ही प्रतिमाधारी बनते हैं और कितने ही मूर्ख उदासीन बनते हैं परंतु अपने अज्ञानसे तथा इच्छानुसार प्रवृत्ति करनेसे वे सब स्वयं अपने अपने पदसे भ्रष्ट हो जाते हैं। उनमेंसे कितने ही तो ऐसे हैं जो मुनियोंकी क्रियाएं पालन करते हैं और कहते यह हैं कि हम लोग मुनियोंसे भी श्रेष्ठ हैं, हम अवश्य ही सम्यग्दृष्टि हैं" वे पापी सदा इसी प्रकार मानते रहते और अपने आत्माको दुःखी किया करते हैं। यदि कोई पुरुष देव शास्त्र गुरुका तिरस्कार वा उनकी निंदा करता है, अथवा जिनधर्म धारण करनेवाले चारों प्रकारके

संघकी निंदा वा उनका तिरस्कार करता है अथवा कोई मनुष्य चैत्य चैत्यालय आदिकी निंदा वा तिरस्कार करता है उसे सुनकर वा यथार्थ रूपसे देखकर भी ये उदासीन रहते हुए प्रतिमाधारी मनुष्य क्षमा वा मौन धारण कर लेते हैं उदासीन होकर उसकी प्रतिक्रियासे उदास हो जाते हैं ऐसे लोगोंको जिनधर्मसे बाह्य और मिथ्यात्व कर्मसे घिरे हुए समझना चाहिये। ऐसे लोग इस पृथ्वीपर अभिमान में डूबकर ऊंटके समान ऊपरको मुह उठाकर रहते हैं और प्राय. पापी होते हैं। अथवा ऐसे लोग मुनि होकर भी न स्वाध्याय करते हैं न अपने आत्माका चिंतन करते हैं और न समस्त क्लेशोंको दूर करनेवाले अपने आत्मजन्य आनंदामृत-रसका पान करते हैं। किंतु मुनि होकर भी दुःख बढाने वाले गृहस्थों के योग्य कार्य किया करते हैं। इसी प्रकार वे पापी लोग वैर विरोध बढानेवाले कार्य किया करते हैं। उन्हें भी अपने आत्मजन्य ज्ञानसे बाहर और मिथ्यात्व कर्मसे घिरे हुए समझना चाहिये। समस्त जीवोंका हित करनेके लिये और इस प्रकारकी अनवस्थाका नाश करनेके लिये तथा शिष्ट पुरुषोंकी पुष्टि करनेके लिये अत्यंत सज्जन मुनिराज कुंथुसागर ने यह सब वर्णन किया है। ॥२४९—२६५॥

इति श्री मुनिराजकुंथुसागरविरचितबोधामृतसारग्रंथे
स्फुटप्रश्नोत्तरवर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः।

इस प्रकार मुनिराज श्री कुंथुसागरविरचित बोधामृतसारनामके ग्रंथमें स्फुट प्रश्नोत्तरोंको
वर्णन करनेवाला यह पहला अध्याय समाप्त हुआ।

अथ द्वितीयोऽधिकारः

भावनीयोपवासेहि भावना का गुरो ! वद ? प्रश्नः—हे गुरो उपवासके दिन कौनसी भावनाका चिंतन करना चाहिये ?

यदोपवासा विमला भवेयु, स्तदा तदा षोडश भावनास्ताः ।
स्वर्मोक्षदात्र्यो भवरोगहर्त्र्यः, स्वराज्यहेतोर्हृदि भावनीया ॥२६६॥

उत्तरः—जिस दिन निर्मल उपवास किया हो उस दिन भव्य जीवोंको अपना मोक्षरूप स्वराज्य प्राप्त करनेके लिये स्वर्गमोक्षको देनेवालीं और संसाररूपी रोगको हरण करनेवालीं सोलह कारण भावनाओंका चिंतन करना चाहिये ॥२६६॥

समस्तदोषाद्रहिता विशुद्धिः श्रद्धानरूपस्य सुदर्शनस्य ।
स्वस्वादतः स्वात्मविलोकनाद्वा, निजात्मबोधाच्च जिनानुरागात् ॥२६७॥
स्वराज्यदात्री परराज्यहर्त्री, षट्खंडराज्यस्य सुदायिकापि ।
श्रेष्ठा भवेद्दर्शनशुद्धिरेवं, स्वराज्यहेतोर्हृदि भावनीया ॥२६८॥

समस्त तत्त्वोंका वा अपने शुद्ध आत्माका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है उसकी विशुद्धि समस्त दोषोंसे रहित होनेपर होती है । तथा अपने आत्माकी रुचि होने,

आत्माका दर्शन होने, तथा अपने शुद्ध आत्माका ज्ञान होने और भगवान जिनेंद्रदेवमें अनुराग होनेसे वह सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि प्रगट होती रहती है। यह सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि आत्मजन्य स्वराज्य को देनेवाली है, पुद्गलादिक के परराज्यको हरण करनेवाली है, छहो खंडका अखंड राज्य देनेवाली है और सर्वश्रेष्ठ है ऐसी यह सम्यग्दर्शनकी शुद्धि अपना आत्मजन्य स्वराज्य प्राप्त करनेके लिये भव्य जीवोंको अपने हृदयमें सदा चिंतन करते रहना चाहिये ॥ २६७ ॥ २६८ ॥

दृग्बोधचारित्रतपोविधीनां, स्वर्मोक्षदानां शिवसाधकानाम्।
तद्धारकाणामिति वा जनानां, स्वात्माश्रितानां स्वरसाश्रितानाम् ॥२६९॥
सदा प्रशंसा क्रियते हि यत्र, सैवास्ति पूता विनयस्य सम्पत्।
संसारहर्त्री शिवसौख्यदात्री, भव्यैः सदा सा परिपालनीया ॥२७०॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपश्चरण स्वर्गमोक्ष देनेवाले हैं तथा मोक्षके साधक हैं, और इन चारोंको धारण करनेवाले मनुष्य अपने आत्माके आश्रित है तथा आत्मजन्य आनंदरसके आश्रित है। इन सबकी सदा प्रशंसा करते रहना, इनके प्रति नम्रता धारण करना, पवित्र विनयरूपी संपत्ति कहलाती है। यह विनय संसारको हरण करनेवाली है और मोक्षसुखको देनेवाली है अतएव भव्य जीवोंको इस विनयका पालन सदा करते रहना चाहिये ॥२६९॥२७०॥

मनोवचःकायकृतादिभेदै स्त्यक्त्वा जवात्कोपचतुष्टयादिं ।
तथातिचारं व्रतनाशकं च, त्यक्त्वा भयादिं ममकारबुद्धिम् ॥२७१॥
व्रतेष्वहिंसादिषु कामदेषु, शीलेषु तत्प्रापकवर्द्धकेषु ।
प्रवर्तते यत्र निजाश्रयेण, शुद्धिर्व्रतादेः सुखदास्ति सैव ॥२७२॥

मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायोंका त्याग कर, व्रतोंको नाश करनेवाले अतिचारोंका त्याग कर, सबतरहके भयोंका त्याग कर और ममत्व बुद्धिका त्याग कर केवल अपने आत्माके आश्रित होकर इच्छानुसार फल देनेवाले अहिंसादिक व्रतोंमें तथा अहिंसादिक व्रतोंको प्राप्त कराने वाले और बढानेवाले शीलोंमे अपनी प्रवृत्ति करना सुख देनेवाली व्रतोंकी शुद्धि कहलाती है। इसीको शील और व्रतों को अतिचाररहित पालन करना कहते हैं ॥ २७१ ॥ २७२ ॥

त्यक्त्वा प्रमादं विषयस्य चिन्तां, पंचास्तिकायस्य यथास्थितस्य ।
वा सप्ततत्त्वस्य निजात्मनोऽपि, षड्द्रव्यलोकस्य यथार्थधर्मः ॥२७३॥
विबुध्यते यत्र यथार्थचिह्नै, र्वा पीयते स्वात्मरसः सदैव ।
ज्ञानोपयोगः सुखदोऽप्यभीक्ष्णं, सदा सुभव्यैर्हृदि धारणीयः ॥२७४॥

प्रमाद और विषयोंकी चिन्ताओंको छोडकर यथार्थ स्वरूपको धारण करनेवाले पांचों

अस्तिकायोंके यथार्थ धर्मको वा स्वरूपको समझना, अथवा सातों तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूप को समझना, वा अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझना अथवा छहों द्रव्यसे भरे हुए लोकके यथार्थ स्वरूपको समझना, इन सबका स्वरूप उनके यथार्थ लक्षणोंसे समझना, अथवा अपने आत्मजन्य आनंदामृत रसका सदा पान करते रहना, सुख देनेवाला अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग कहलाता है। अभीक्ष्ण शब्दका अर्थ सदाकाल है। अपना उपयोग सदाकाल ज्ञानमें लगाये रखना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। ऐसा यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भव्य जीवोंको अपने हृदयमें धारण करते रहना चाहिये ॥ २७३ ॥ २७४ ॥

बाह्यात्पदार्थात्क्षणिकात्सुखाद्वा, भोगोपभोगाद्विषयाद्धि राज्यात् ।
समस्तबंधोरपि सन् विरक्तः, स्वात्मानुभूत्यामचले स्वराज्ये ॥२७५॥
स्थातुं प्रयत्नः क्रियते च यत्र, वा भुज्यते स्वात्मसुखं सदैव ।
संवेगभावः सुखदः स एव, भव्यैस्त्रिकाले हृदि भावनीयः ॥२७६॥

क्षण क्षणमें नाश होनेवाले बाह्य पदार्थोंसे, इन्द्रिय जन्य सुखसे भोगोपभोगोंसे, विषयोंसे, राज्यसे और समस्त बंधुओंसे विरक्त होकर अपनी आत्मानुभूतिमें स्थिर रहनेका प्रयत्न करना, वा आत्मजन्य निश्चल स्वराज्य में स्थिर रहनेका प्रयत्न करना अथवा सदाकाल आत्मजन्य सुखका अनुभव करना सुख देनेवाला संवेगभाव कहलाता है। यह संवेगभाव भव्य जीवोंको अपने हृदय में तीनों काल धारण करना चाहिये ॥२७५॥२७६॥

मिथ्यात्वमोहादिविवर्जिताय, दृग्बोधचारित्रसमन्विताय ।
स्वानन्दजुष्टाय दयाश्रिताय, भव्याय संघाय चतुर्विधाय ॥२७७॥
चतुर्विधं यत्र च दीयते हि, भक्त्या सुदानं परमार्थबुध्द्या ।
स्वर्मोक्षदो दानविधिः स एव, भव्यैः स्वशक्त्या हृदि धारणीयः ॥२७८॥

जो भव्य मुनि वा चारों प्रकारका संघ मिथ्यात्व मोह आदिसे रहित है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रसे सुशोभित है, अपने आत्मजन्य आनंदमें लीन है और अत्यत दयालु है ऐसे मुनि वा चारों प्रकारके संघ को परमार्थबुद्धिसे भक्तिपूर्वक चारों प्रकारका दान देना स्वर्ग मोक्ष देनेवाली दानकी विधि कहलाती है भव्य जीवोंको यह दानकी विधि अपनी शक्तिके अनुसार सदाके लिये हृदय मे धारण कर लेनी चाहिये ॥२७७॥२७८॥

संसारबन्धस्य विनाशनार्थं, पलायनार्थं विषयस्पृहायाः ।
परार्थतत्त्वामृतपानहेतो दृग्बोधचारित्रविवर्द्धनार्थम् ॥२७९॥
स्वराज्यहेतोः क्रियते च यत्र, स्वेच्छानिरोधः सुखदं तपश्च ।
तदेव लोके विमलं तपोऽस्ति, कार्यं सदा द्वादशधा सुभव्यैः ॥२८०॥

जन्ममरण रूप संसारके बंधनको नाश करनेके लिए विषयोंकी तृष्णाको भगानेके लिये परमार्थ तत्त्वको तलाश करनेके लिए, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको सदा.

नेके लिए और आत्मजन्य शुद्ध स्वराज्य प्राप्त करनेके लिए जहांपर सुख देनेवाला इच्छा निरोधरूप तपश्चरण किया जाता है वही इस संसारमें निर्मल तपश्चरण कहलाता है । वह तपश्चरण बारह प्रकारका कहा जाता है। भव्य जीवोंको यह बारह प्रकारका तपश्चरण सदा काल धारण करते रहना चाहिए ॥ २७९ ॥ २८० ॥

मानापमानादिबहिःस्थितानां, सदा जिनाज्ञाप्रतिपालकानाम् ।
स्वात्माश्रितानां स्वसुखाश्रितानां जातो हि कर्मोदयतश्च विघ्नः ॥ २८१ ॥
भक्त्या मुनीनामपनीयते वा, सुरक्ष्यते यत्र यथार्थधर्मः ।
साधोः समाधिः सः सुखार्पकोऽस्ति, भव्यैश्च कार्यः सततं सुभक्त्या ॥२८२॥

जो मुनि मान अपमानसे अलग रहते हैं, भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका सदा पालन करते हैं, जो अपने आत्माके आश्रित रहते हैं अथवा आत्मजन्य सुखके आश्रित रहते हैं ऐसे मुनियोंके धर्मकार्यमें यदि कर्मके उदयसे कोई विघ्न आजाय तो भक्तिपूर्वक उस विघ्नको दूर करना और यथार्थ धर्मकी अच्छीतरह रक्षा करना सुख देनेवाली साधुसमाधि कहलाती है । यह साधुसमाधि भव्यजीवोंको भक्तिपूर्वक सदा करते रहना चाहिये ॥२८१॥२८२॥

समस्तसंसारबहिःस्थितानां यथार्थतत्त्वप्रतिपादकानाम् ।
या सन्मुनीनां स्वपदाश्रितानां ज्वरादिरोगैः परिपीडितानाम् ॥ २८३॥

मनोवचःकायकृतादिभेदैः, सेवा सुभाक्तिः क्रियते च यत्र ।
सेवाविधिर्वाञ्छितदः स एव, भक्त्या हि कार्यः सततं सुभव्यैः ॥ २८४ ॥

जो श्रेष्ठ मुनि समस्त संसारसे अलग रहते हैं तथा जो यथार्थ तत्त्वोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं और केवल अपने आत्माके आश्रित हैं ऐसे मुनि यदि ज्वरादि रोगोंसे पीडित हो जाय तो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे उनकी सेवा शुश्रूषा करना, उनकी भक्ति करना इच्छानुसार फल देनेवाला वयावृत्त्य कहलाता है । यह वयावृत्त्य भव्य जीवोंको भक्तिपूर्वक सदा करते रहना चाहिये ॥२८३॥२८४॥

समस्तविश्वस्य यथास्थितस्य, द्रष्टुश्च बोध्दुः सततं यथावत् ।
त्रिलोकबंधोर्जितकर्मशत्रोः, स्वर्मोक्षदातुर्भवरोगहर्तुः ॥८५॥
पूज्यार्हतो यत्र गुणा मनोज्ञा, वाक्कायचित्तैः खलु वर्ण्यते यः ।
सैवार्हतो वाञ्छितदास्ति भक्ति, मोंक्षाय कार्या सततं सुभव्यैः ॥२८६॥

अत्यंत पूज्य भगवान् जिनेन्द्रदेव यथास्थित समस्त लोकको यथार्थ रीतिसे सदाकाल देखते और जानते रहते हैं । तथा वे भगवान तीनों लोकोंका हित करनेवाले हैं, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले हैं, स्वर्गमोक्षको देनेवाले हैं और संसाररूपी रोगको नष्ट करनेवाले हैं । ऐसे भगवान जिनेंद्र देवके मनोहर गुणोंको मन वचन कायसे वर्णन करना इच्छानुसार फल देनेवाली भगवान अरहंत देवकी भक्ति कहलाती है । यह अरहंतभक्ति श्रेष्ठ भव्य जीवोंको

मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सदाकाल करते रहना चाहिये ॥२८५॥२८६॥

भीमे भवाब्धौ पततां जनानां, दीक्षादिदानैः परिपालनैर्वा ।
बोधामृतैः स्वात्मविबोधनैर्वा, संसारहर्तुः सुखशांतिदातुः ॥२८७॥
गुणेऽनुरागः, क्रियते च यत्रा, चार्यस्य चानन्दपदाश्रितस्य ।
पूता सुभक्तिः सुखदास्ति सैवा, चार्यस्य भव्यैश्च सदैव कार्या ॥२८८॥

जो मनुष्य अत्यंत भयानक संसाररूपी समुद्रमें पडे हुए हैं उनको दीक्षा देकर, उनके चारित्रका पालन कराकर, उनको ज्ञानामृत पिलाकर और उनको आत्मज्ञान प्रगट कराकर उन शिष्योंके जन्ममरणरूप संसारको हरण करनेवाले तथा उनको सुख शांति देनेवाले और अपने आत्मजन्य आनंद स्थानमें अपने आत्माको लीन करने वाले आचार्यके गुणोंमें जो अनुराग करता है उसको पवित्र और सुख देनेवाली आचार्य परमेष्ठिकी भक्ति कहते हैं। यह आचार्यभक्ति भव्यजीवोंको सदा करते रहना चाहिए ॥ २८७ ॥२८८॥

ज्ञातुर्यथावद्धि जिनागमस्य, सुपाठने वा पठने सदैव ।
दक्षस्य चानन्दरसाश्रितस्य, अज्ञानहर्तुर्निजबोधकर्तुः ॥२८९॥
भक्त्या ह्युपाध्यायविभोः कृपाब्धे, गुणेऽनुरागः क्रियते च यत्र ।
सैवास्ति भक्तिः सुबहुश्रुतस्य, भक्त्या हि कार्या सततं सुभव्यैः ॥२९०॥

जो उपाध्याय परमेष्ठी जिनागमके यथार्थ ज्ञाता हैं तथा उसी जिनागमके पठन पाठन करनेमें सदा निपुणता धारण करते हैं, जो सदा आत्मजन्य आनदामृत रसके आश्रय रहते हैं जो अज्ञानको नाश करनेवाले हैं आत्मज्ञानको प्रगट करनेवाले हैं और कृपाके सागर हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीके गुणोमें भक्तिपूर्वक अनुराग करना उपाध्याय भक्ति अथवा बहुश्रुतभक्ति कहलाती है। यह उपाध्याय भक्ति भव्य जीवों को भक्तिपूर्वक सदा करते रहना चाहिये ॥२८९॥२९०॥

द्रव्यादितत्त्वस्य यथास्थितस्य, सापेक्षदृष्ट्या प्रतिपादकस्य ।
नयप्रमाणैश्च सुशोभितस्य, निजात्मबुद्धेः परिवर्द्धकस्य ॥२९१॥
अनात्मबुद्धेः प्रपलायकस्य, जिनागमस्य क्रियते च यत्र ।
सैवास्ति भक्तिः सुखदा पवित्रा, श्रुतस्य कार्या सततं सुभव्यैः ॥२९२॥

इस संसारमें जो द्रव्य और तत्त्व जिस रूपसे स्थित हैं उनको अपेक्षा दृष्टिसे जो प्रतिपादन करनेवाला है, जो नय और प्रमाणोंसे सुशोभित हैं जो अपने आत्मज्ञानको बढ़ानेवाला है और आत्मज्ञानसे रहित मिथ्याज्ञानको नाश करनेवाला है ऐसे जिनागमकी जहांपर सुख देनेवाली और पवित्र भक्ति की जाती है उसको श्रुतभक्ति वा प्रवचनभक्ति कहते हैं। यह प्रवचनभक्ति भव्य जीवोंको सदाकाल करते रहना चाहिये ॥२९१॥२९२॥

त्यक्त्वा प्रमादं निखिलं च कार्यं, यथोक्तकाले समशान्तवृत्त्या ।

दृग्बोधचारित्रविवर्द्धकं यद्दोषैरपेतं शिवसौख्यदं वा ॥२९३॥
भक्त्या षडावश्यकमेव यत्र, स्वराज्यहेतोः क्रियते सदैव ।
भव्यैः षडावश्यकमेव कार्यं, कर्मप्रणाशाय तपोऽभिवृद्ध्यै ॥२९४॥

छहों आवश्यक सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको बढानेवाले हैं, समस्त दोषोंसे रहित हैं और मोक्षके परम सुखको देनेवाले हैं। ऐसे ये छहों आवश्यक अपने आत्मजन्य स्वराज्य प्राप्त करनेकेलिये सबतरहके प्रमाद और कार्योंको छोडकर शास्त्रोंके अनुसार कहे हुए नियत समयपर समतारूप तथा शांत परिणामोंसे जहांपर सदा किये जाते हैं उनको आवश्यक कहते हैं शास्त्रोंमें कहे हुए छहों आश्यक भव्य जीवोंको अपने कर्म नष्ट करनेके लिये और तपश्चरणको बढानेके लिये अवश्य करते रहना चाहिये ॥ २९३ ॥ २९४ ॥

पूजाप्रतिष्ठाचरणैः पवित्रैः बोधामृतैः क्लेशविनाशकैर्वा ।
विद्याकलाभिर्जिनमंत्रतंत्रैः, प्रवर्तनैर्वेति मिथोऽविरोधैः ॥२९५॥
धनादिदानैर्जिनधर्मवृद्धिः, व्रतोपवासैः क्रियते च यत्र ।
प्रभावना सैव सुखस्य दात्री धर्मस्य कार्या सततं सुभव्यैः ॥२९६॥

पवित्र पूजा करके प्रतिष्ठा करके, सदाचरण पालन करके समस्त क्लेशोंको दूर करनेवाले आत्मजन्य ज्ञानामृत को धारण करके वा विद्या कलाओंको प्रगट करके जिनमतमें कहे हुए मंत्रतंत्रों का प्रभाव दिखला करके, सबके साथ अविरोध रीतिसे अपनी प्रवृत्ति दिखला

करके, धनादिकका दान दे करके और व्रत उपवास करके ज... जिनधर्मकी वृद्धि की जाती है उसको सुख देनेवाली धर्मकी प्रभावना कहते हैं। यह धर्मकी प्रभावना भव्यजीवों को सदाकाल करते रहना चाहिये ॥ २९५ ॥ २९६ ॥

निजात्मनिष्ठैः परमार्थपुष्टै, स्तत्त्वार्थतुष्टैर्जिनधर्मजुष्टैः ।
सधर्मभिर्धर्मरतैश्च सार्द्धं, सदा प्रमोदः क्रियते च यत्र ॥२९७॥
वत्सेन सार्द्धं च यथा जनन्या, तथात्मनिष्ठैर्मुनिभिःसुधीरैः ।
स्वर्मोक्षदा वत्सलता सुभव्यैः, सधर्मणो वा हृदि भावनीया ॥२९८॥

जो साधर्मी जन अपने आत्मामें सदा लीन रहते हैं, जो परमार्थकी पुष्टि करते रहते हैं, तत्त्वार्थप्रेमसे सदा संतुष्ट रहते हैं, जिनधर्मको सदा प्रेमपूर्वक धारण करते हैं और धर्म में सदा लीन रहते हैं, ऐसे धर्मात्माओंके साथ जिसप्रकार माता अपने बच्चेके साथ प्रेम करती है उसीप्रकार अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले धीर वीर मुनिराज जो प्रेम करते रहते हैं वा उन धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न होते रहते हैं उसको धर्मवत्सलता कहते हैं । यह स्वर्ग मोक्षको देनेवाली धर्मवत्सलता भव्य जीवों को सदा काल अपने हृदयमें चिंतन करनी चाहिये ॥ २९७ ॥ २९८ ॥

आसां ध्रुवं षोडशभावनानां, योगेन तीर्थंकरनामकर्म ।
लोके सदाश्चर्यकरं मनोज्ञं, जगत्प्रियं बध्यते एव भव्यैः ॥२९९॥

है, शत्रुविरोधका नाश होजाता है, आत्मजन्य स्वराज्यकी प्राप्ति हो जाती है और जन्ममरण का नाश हो जाता है। यही समझकर भव्य जीवोंको समस्त जीवोंके प्रति मोक्ष देनेवाला कोमल परिणाम वा मार्दवधर्म सदाकाल धारण करते रहना चाहिये ॥२०४॥२०५॥

शीलव्रतध्यानजपक्षमाद्याः, पूजाप्रतिष्ठात्मविचारभावाः ।
वृथा भवेदार्जवधर्मलोपाद्, ज्ञात्वेति चित्ते च यथाविचारः ॥२०६॥
कायेन कार्यो वचसापि वाच्य, स्तथा सदा ह्यार्जवधर्म एव ।
स्वर्मोक्षदो वाञ्छितवस्तुदाता, भवेद्धि शीघ्रं भवरोगहर्ता ॥२०७॥

जो मनुष्य आर्जव धर्मको नष्ट कर देता है उसके शील, व्रत, ध्यान जप, क्षमा, पूजा, प्रतिष्ठा और आत्माके श्रेष्ठ विचार सब व्यर्थ हो जाते हैं । यही समझकर भव्यजीवों को अपने विचार जैसे अपने मनमें करने चाहिये वैसे ही वचन से कहना चाहिये तथा उसी प्रकार शरीरसे करना चाहिये। इसीको आर्जव धर्म कहते हैं । यह आर्जव धर्म स्वर्गमोक्षको देनेवाला है, इच्छाके अनुकूल पदार्थोंको देनेवाला है और शीघ्र ही संसाररूपी रोगको हरण करने वाला है ॥२०६॥२०७॥

पापस्य मूलं कथितोऽस्ति लोभः, समस्तसंतापविवर्द्धको वा ।
संसारबंधस्य च मुख्यहेतु, स्तथैव संकल्पविकल्पजालः ॥२०८॥

त्याज्यः स लोभो ह्यवगम्य चैवं, समस्तसाम्राज्यनिधानभूतः ।
स्वर्मोक्षदो वा सुखशान्तिकोशः, शुचित्वधर्मः परिपालनीयः ॥३०९॥

यह लोभ भगवान् जिनेंद्रदेवने पापका मूल वतलाया है तथा यही लोभ समस्त संतापोंको वढानेवाला है ससारके वंधनोंका मुख्य कारण है और अनेक सकल्प विकल्पोंका जाल है। यही समझकर भव्य जीवोंको इस लोभका त्याग कर देना चाहिये और समस्त साम्राज्य का खजाना, स्वर्ग मोक्ष देनेवाला और सुख शांतिका निधान ऐसा शौचधर्म सदा पालन करते रहना चाहिये ॥३०८॥३०९॥

अशान्तिदं साध्वसवैरकारि, भ्रान्तिप्रदं धर्मविरुद्धवाक्यम् ।
संतापदं क्लेशकरं न वाच्यं, प्राणेष्वसत्यं च गतेषु सत्सु ॥३१०॥
तथा सुभव्यैः स्वपरार्थशान्त्यै निजात्मसिध्यै मधुरं मनोज्ञं ।
शान्तिप्रदं भ्रान्तिहरं क्षमादं, सत्यं हितं प्रीतिकरं हि वाच्यम् ॥३११॥

असत्य वचन अशांति उत्पन्न करनेवाले हैं, विरोध करनेवाले हैं भ्रांतिको उत्पन्न करते हैं और धर्मके विरुद्ध हैं इसके सिवाय असत्यवचन सवको संतप्त करनेवाले हैं और क्लेशको उत्पन्न करनेवाले हैं, ऐसे असत्य वचन भव्य जीवोंको अपने प्राण जानेपर भी कभी नहीं वोलने चाहिये तथा अपने आत्मा को और अन्य जीवोंको शांत करनेके लिये वा अपने आत्माकी सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेके लिये मधुर, मनोज्ञ, शांति देनेवाले, भ्रांतिको हरण करने-

वाले, क्षमाको प्रगट करनेवाले और प्रेम उत्पन्न करनेवाले तथा सबका हित करनेवाले सत्य-वचन ही सदा बोलने चाहिये ॥२१०॥२११॥

षट्कायजीवस्य सुरक्षकोऽस्ति, चित्ताक्षवेगस्य निरोधकोऽपि ।
अनात्मबुद्धेः प्रपलायकोऽस्ति, सदात्मबुद्धेः परिवर्द्धकश्च ॥२१२॥

स्वर्मोक्षदः संयम एव शक्तो, ज्ञात्वेति भव्यैः परिरक्षणीयः ।
श्रीमान्न शास्त्री न मुनिर्विभाति, नारी नरः संयमरत्नहीनः ॥२१३॥

संयमधर्म छहों कायके जीवोंकी रक्षा करनेवाला है, मन और इन्द्रियोंके वेगको रोकनेवाला है, आत्मज्ञानसे बाहर रहनेवाली मिथ्याबुद्धिका नाश करनेवाला है, आत्मज्ञानको बढानेवाला है और स्वर्गमोक्षको देनेवाला है। इन सब कामोंके लिये एक संयम ही समर्थ है। यही समझकर भव्य जीवोंको इस संयमधर्मका पालन सदाकाल करते रहना चाहिये। इस संयमरूपी रत्नके विना न तो कोई मनुष्य शोभायमान होता है, न कोई स्त्री शोभायमान होती है, न कोई धनवान शोभायमान होता है, न कोई शास्त्री शोभायमान होता है और न कोई मुनि शोभायमान होता है ॥२१२॥॥२१३॥

मिथ्याप्रपंचस्य पलायनार्थं, समस्तकर्मारिविनाशनार्थम् ।
पंचाक्षवह्निं शमितुं समर्थं, शीघ्रं च भेत्तुं बहिरात्मबुद्धिम् ॥२१४॥

इच्छानिरोधः खलु तस्य चिह्नं जिनैः प्रणीतं द्विविधं तपश्च ।
ज्ञात्वेति कार्यं निजराज्यहेतोः स्वर्मोक्षदं वाञ्छितदं सदैव ॥२१५॥

भगवान जिनेन्द्रदेवने इस तपश्चरणका लक्षण इच्छाका रोकना बतलाया है, तथा अंतरंग बाह्यके भेदसे दो भेद बतलाये हैं। यह तपश्चरण मिथ्याप्रपंचोंको नष्ट करनेमें समर्थ है, पांचों इन्द्रियरूपी अग्निको शांत करनेमें समर्थ है, बहिरात्मबुद्धिका नाश करनेमें समर्थ है, स्वर्ग मोक्षका देनेवाला है और समस्त इच्छा ओंको पूर्ण करनेवाला है। यही समझकर भव्य जीवोंको अपना आत्मजन्य राज्य प्राप्त करनेके लिये सदाकाल इस तपश्चरणका पालन करते रहना चाहिये ॥ २१४ ॥ २१५ ॥

पूताय संघाय चतुर्विधाय, सदा जिनाज्ञाप्रतिपालकाय ।
संसारमोहादिविनाशकाय, चतुर्गतेर्मार्गनिरोधकाय ॥२१६॥
भव्याय संकल्पविकल्पहर्त्रे, रत्नत्रयाणां परिपालकाय ।
चतुर्विधं क्लेशहरं सुदानं दातव्यमेवं शिवसौख्यहेतोः ॥२१७॥

मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका यह चारों प्रकारका संघ अत्यंत पवित्र है सदाकाल भगवान जिनेंद्रदेवकी आज्ञाका पालन करनेवाला है, संसार और मोहादि विकारोंको नष्ट करनेवाला है, चारों गतियोंके मार्गको रोकनेवाला है समस्त संकल्प विकल्पोंको हरण करनेवाला है रत्नत्रयको पालन करनेवाला है और भव्य है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेवाला है। ऐसे

चारो प्रकारके संघको मोक्षसुख प्राप्त करनेके लिये समस्त क्लेशोंको दूर करनेवाला चारों प्रकारका दान अवश्य देना चाहिये ॥ ३१६ ॥ ३१७ ॥

बाह्यादिभेदाद्द्विविधश्च संगो, ह्यनर्थकारी सुखशान्तिहारी ।
स्वर्गापवर्गादिनिरोधकारी, ह्याशाग्रहाणां परिवर्द्धकोऽस्ति ॥३१८॥
समस्तसंतापनिधानमेव, ह्येवं यथावत्कथितोऽल्पबुध्या ।
ज्ञात्वेति शीघ्रं च स्वराज्यहेतो, स्त्याज्यो हि भव्यैर्द्विविधोऽपि संगः ॥३१९॥

यह परिग्रह बाह्य और अभ्यंतरके भेदसे दो प्रकारका है । यह दोनों प्रकारका परिग्रह अनेक अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाला है, सुख और शांतिको हरण करनेवाला है, स्वर्ग मोक्ष आदि कल्याणोंको रोकनेवाला है, आशारूपी ग्रहोंको बढानेवाला है और समस्त संतापोंका खजाना है । इस प्रकार श्रीकुंथुसागर मुनिने अपनी अल्प बुद्धिके अनुसार यथार्थरीतिसे निरूपण किया है । यही समझकर भव्य जीवोंको अपना आत्मजन्य राज्य प्राप्त करनेके लिये शीघ्र ही दोनो प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर देना चाहिये ॥३१८॥३१९

बंधस्य मूलं हि कलत्रमेव, मोक्षस्य मूलं त्यजनं च तस्य ।
ज्ञात्वेति शीघ्रं हि कलत्रमात्रं, त्यक्त्वापि सम्बंधभवं प्रदोषम् ॥३२०॥
मनोवचःकायकृतादिभेदै, र्मोक्षप्रदे सौख्यमये स्वराज्ये ।
शान्तिप्रदे स्वात्मन एव धर्मे, स्थातुं प्रयत्नश्च सदा विधेयः ॥३२१॥

२स संसारमें कर्मबंधका मूलकारण स्त्री है और मोक्षका मूल कारण उसका त्याग है यही समझकर भव्य जीवोंको शीघ्र ही स्त्रीमात्रका त्याग कर देना चाहिए और उसके संबंधसे होनेवाले दोषोंका भी त्याग कर देना चाहिए तथा मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे मोक्षप्रदान करनेवाले, अनंत सुखमय, अत्यंत शांति देने वाले और अपने स्वराज्यरूप अपने आत्माके विज्ञानमय धर्ममें सदा काल स्थिर रहनेका प्रयत्न करना चाहिए। इसीको ब्रह्मचर्य धर्म कहते हैं ॥ ३२० ॥ ३२१ ॥

वद निःशंकितादीनामंगानां लक्षणं गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो ! कृपाकर कहिये कि सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि अंग कैसे हैं ?

निर्दोषयोगाद्धि जिनोक्त एव, मोक्षस्य मार्गः सुखदः पवित्रः ।
रत्नत्रयेणापि विभूषितश्च, सर्वस्य जन्तोरभयप्रदो हि ॥३२२॥
ज्ञात्वेति कौ ये जिनधर्ममार्गे, श्रद्धां प्रकुर्वन्ति सदा ह्यकंपाम् ।
निःशंकितांगं विमलं च गाढं, दृष्टेर्भवेदंजनचौरवद्वा ॥३२३॥

उत्तरः—इस संसारमें सुख देनेवाला और पवित्र मोक्षमार्ग भगवान जिनेंद्रदेवका कहा हुआ है क्योंकी वही निर्दोष है, रत्नत्रयसे विभूषित है और समस्त प्राणियोंको अभय देनेवाला है। यही समझकर इस संसारमें जो भव्य जीव भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए इस धर्ममार्ग वा मोक्षमार्गमें अटल श्रद्धान रखते हैं उनके ही अंजनचौरके समान निर्मल और गाढ ऐसा सम्यग्दर्शनका निःशंकित नामका पहला अंग होता है ॥ ३२२ ॥ ३२३ ॥

निजात्मबाह्ये क्षणिके च भीमे, क्लेशादिपूर्णे परतश्च जाते ।
त्यक्ते च निंद्ये सुनिजात्मनिष्ठैः, रादौ प्रिये वा कटुके हि चान्ते ॥३२४॥
एतादृशे सौख्य इहान्यलोके, कुर्वन्ति नास्थां न कदापि कांक्षाम् ॥
भवेद्धि तेषां शिवदं पवित्रं, वंद्यं हि निःकांक्षितमेव चांगं ॥३२५॥

यह इस लोकसंबंधी अथवा परलोकसंबंधी सुख अपने आत्मासे भिन्न है, क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाला है, भयंकर है, अनेक क्लेशोंसे परिपूर्ण है, पुद्गलादिक अन्य पदार्थोंसे उत्पन्न होता है, निंदनीय है, अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले मुनियोंके द्वारा त्याग किया हुआ है, पहले भोगते समय अच्छा मालूम होता है परंतु अंतमें कडवा वा दुःख देनेवाला है ऐसे इस लोक और परलोक संबंधी सुखमें जो पुरुष कभी श्रद्धान नहीं करते और कभी उसकी इच्छा नहीं करते उन पुरुषोंके मोक्ष देनेवाला पवित्र और वंदनीय ऐसा सम्यग्दर्शनका निःकांक्षित नामका दूसरा अंग होता है ॥ ३२४ ॥ ३२५ ॥

तुच्छे निसर्गान्मलिनेऽपवित्रे, बीभत्सभीमे मलमूत्रयुक्ते ।
रत्नत्रयस्य स्वगुणस्य योगात्पवित्रभूते शिवहेतुदेहे ॥३२६॥
स्वात्माश्रितानां शिवसाधकानां, ग्लानिं न कुर्वन्ति गुणप्रमोदात् ।
स्वमोक्षदं संभवरोगहर्तृ, तेषां भवेन्निर्विचिकित्सितांगम् ॥३२७॥

जो मुनिराज अपने आत्माके आश्रित रहते हैं और मोक्षका साधन करते रहते हैं उनका शरीर यद्यपि तुच्छ है स्वभावसे ही मलिन है, अपवित्र है, घृणित है, भयानक है, और मलमूत्रसे भरा है तथापि रत्नत्रय गुण के निमित्तसे वह अत्यंत पवित्र है। ऐसे मुनियोंके शरीरमें उनके गुणोंसे प्रसन्न होकर जो कभी ग्लानी नहीं करते उन भव्य जीवोंके स्वर्ग मोक्षको देनेवाला और संसारके रोगोंका हरण करनेवाला ऐसा सम्यग्दर्शन का निर्विचिकित्सित नामक तीसरा अंग होता है ॥३२६॥३२७॥

क्लेशादियुक्ते कुटिले कुमार्गे, भ्रांतिप्रदेऽनन्तभवप्रदे च।
मिथ्याप्रपंचस्थितजीववर्गे, स्वर्मोक्षबाह्ये सकले कुधर्मे ॥३२८॥
प्रीतिः प्रशंसानुमतिः स्थितिश्च, मनोवचः कायकृतादिभेदैः।
यैर्भव्यजीवैः क्रियते न यत्र, दृष्टिर्ह्यमूढा भवतीह तेषाम् ॥ ३२९ ॥

जो मोक्षका मार्ग अनेक क्लेशोंसे भरा हुआ है, कुटिल है, भ्रांति करनेवाला है और अनंत भवोंको देनेवाला है तथा इसीलिये जो कुमार्ग कहलाता है ऐसे कुमार्ग में तथा मिथ्याप्रपचोंमें रहनेवाले जीवोंके समूहमें और स्वर्गमोक्षके साधनोंसे अलग रहनेवाले समस्त कुधर्मोंमें मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे जो भव्य जीव न प्रेम करते हैं। न उनकी प्रशंसा करते हैं, न अनुमति देते हैं और न उनमें रहते हैं उनके अमूढदृष्टि नामका सम्यग्दर्शनका चौथा अंग होता है ॥ ३२८ ॥ ३२९ ॥

विवेकशून्यैः कृपणैर्गृहस्थै, र्निजात्मशून्यैर्मुनिभिश्च जाता।

श्रीजैनधर्मस्य शिवप्रदस्य, ग्लानिश्च निंदा ह्यपनीयते या ॥३३०॥
बोधामृतैर्ज्ञानबलैः सुदानैर्यैर्यत्र भव्यैर्जिनधर्मनिष्ठैः ।
भवेद्धि तेषामुपगूहनांगं, शान्तिप्रदं भ्रान्तिहरं मनोज्ञं ॥३३१॥

यह जैनधर्म मोक्षप्रदान करनेवाला है, इसकी निंदा वा ग्लानि यदि किसी विवेकरहित कृपण गृहस्थसे हो गई हो वा आत्मज्ञानरहित किसी मुनिसे होगई हो तो उसको जिनधर्म की अटल श्रद्धा रखनेवाले जो भव्य जीव अपने ज्ञानबलसे अथवा उपदेशरूपी अमृतसे अथवा श्रेष्ठ दानादिक देकर अवश्य दूर करते हैं। पवित्र जिनधर्म की निंदा कभी नहीं होने देते, उसको शांति देनेवाला भ्रांतिको हरण करनेवाला और अत्यंत मनोज्ञ ऐसा उपगूहन नाम का अंग कहते हैं। यह सम्यग्दर्शनका पांचवां अंग है॥३३०॥३३१॥

स्वर्मोक्षदातुर्जिनधर्ममार्गाद्रत्नत्रयात्स्वात्मरसात्स्वधर्मात् ।
भीमे भवाब्धौ पततां जनानां, श्रद्धालुभिर्यत्र निजात्मनिष्ठैः ॥३३२॥
ज्ञानामृतैर्धैर्यधनादिदानैः, क्षिप्रं पुनर्यैर्जिनधर्ममार्गे ।
सुस्थापना वा क्रियते स्थितिश्च, स्थितेः सुकार्यं भवतीह तेषाम् ॥३३३॥

यह जिनधर्मका मार्ग रत्नत्रयस्वरूप है और स्वर्ग मोक्षका देनेवाला है। ऐसे रत्नत्रय-

स्वरूप मोक्षमार्गसे अथवा अपने आत्मजन्य आनंदामृत रसके अथवा अपने आत्माके उत्तम क्षमादिक धर्मोंसे गिरकर अर्थात् उनको छोडकर जो पुरुष इस भयानक संसाररूपी समुद्रमें पडरहे हों वा पडना चाहते हों उनको अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले जो श्रद्धालु पुरुष ज्ञानरूपी अमृतकी वर्षा कर वा धैर्य बधाकर अथवा धनादिकका दान देकर उसी जिनधर्म के मार्गमें वा मोक्षके मार्गमें शीघ्र ही स्थापन कर देते हैं अथवा उनकी स्थिरता कर देते हैं उनके स्थितिकरण नामका सम्यग्दर्शनका छठा अंग होता है ॥३३२॥३३३॥

मिथ्याप्रपंच कुटिलं विचारं, विहाय तेषां सुगुणानुरागात् ।
निःस्वार्थबुध्द्या विनयादिसेवाः स्वात्माश्रितानां जिनधार्मिकाणाम् ॥३३४॥
मनोवचःकायकृतादिभेदैः कुर्वन्ति ये धर्मविदो दयार्द्राः ।
वात्सल्यरूपं सुखशांतिदातृ, भवेद्धि तेषां विमलं शुभांगम् ॥३३५॥

जो श्रावक वा मुनि अपने आत्माके आश्रित रहनेवाले हैं, उनके श्रेष्ठ गुणोंमें अनुराग रखकर तथा अपने मिथ्यात्वके समस्त भेदोंको और कुटिल विचारोंको छोडकर जो धर्मात्मा और दयालु पुरुष विना किसी प्रकारकी स्वार्थबुद्धिके मन वचन काय और कृत-कारित-अनुमोदना से उनकी विनय वा सेवा करते हैं उनके सुख और शांति को देनेवाला अत्यंत निर्मल और शुभ ऐसा वात्सल्य नामका सम्यग्दर्शनका सातवां अंग होता है ॥ ३३४ । ३३५ ॥

क्लेशादिदात्रीं सुखशांतिहर्त्रीं, मिथ्यात्वजातां विषमां ह्यविद्याम् ।
विद्याकलाभिर्यजनादिदानै, र्बोधामृतैर्ध्यानतपः सुदृष्टया ॥२३६॥
केनाप्युपायेन पलाययित्वा, सर्वोपरित्वं जिनशासनस्य ।
प्रदर्श्यते यैः शिवदायकं तत्, प्रभावनांगं विमलं हि तेषाम् ॥२३७॥

यह मिथ्यात्वसे उत्पन्न हुई अविद्या अत्यत क्लेश देनेवाली है, अत्यंत विषम है और सुख शांतिको हरण करनेवाली है। इसको जो पुरुष अपनी विद्या वा कलाओंसे पात्रदान वा देवपूजन से ज्ञानरूपी अमृतसे, ध्यानसे, तपसे, सम्यग्दर्शनसे अथवा अन्य किसी भी उपाय से नष्ट कर जिनशासन की उत्तमता सर्वोपरि दिखलाते हैं उनके अत्यंत निर्मल और मोक्ष देनेवाला ऐसा प्रभावना नामका सम्यग्दर्शनका आठवां अंग होता है ॥ २३६ ॥ २३७ ॥

अष्टांगमेवं शिवसाधकं च, संसारमूलस्य विनाशकं वा ।
यथार्थवस्तुप्रतिपादकं च, स्वात्मानुभूतेः परिपालकं हि ॥२३८॥
श्रीकुंथुनाम्ना मुनिनेति सूक्तं, बुध्देति ये के हृदि धारयंते ।
सदैव शक्त्या परिपालयंते, ते स्वर्गमोक्षं क्रमतो लभन्ते ॥२३९॥

इस प्रकार यह आठों अंगोंका समुदाय मोक्षका साधक है, संसारके मूलका नाश करनेवाला है, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाला है और स्वात्मानुभूतिको

प्रतिपादन करनेवाला है, ऐसा मुनिराज श्रीकुंथुसागरजीने प्रतिपादन किया है। इन सबको समझकर जो कोई मनुष्य इनको अपने हृदयमें धारण करते हैं अपनी शक्तिके अनुसार इन सबको सदा पालन करते हैं वे मनुष्य अनुक्रमसे स्वर्गादिकोंके सुखोंको भोगकर अंतमें मोक्ष प्राप्त करते है॥ ३३८ ॥ ३३९ ॥

प्रथमेऽञ्जनचौरोऽङ्गेऽनन्तमती स्पृहातिगा। द्वितीयेऽगे तृतीयेऽपि ह्युद्दायनो नृपः प्रभुः ॥३४०॥ चतुर्थे रेवती राज्ञी जिनभक्तोऽथ पंचमे। षष्ठे श्रेष्ठोत्तमो योगी वारिषेणो नृपात्मजः ॥३४१॥ विष्णुनामा मुनिर्धीरः सप्तमे भव्यवत्सलः। वज्रनामा मुनिर्वीरो ह्यष्टमे क्रमतोऽभवत् ॥३४२॥ पूर्वोक्तानां च भव्यानामष्टांगधारिणां सताम्। सदानुकरणं कार्यं भव्यैः स्वमोक्षहेतवे ३४३

इन आठो अगोंमेसे पहले निःशंकित अगमें अंजनचोर प्रसिद्ध हुआ है, दूसरे निःकांक्षित अगमें इच्छाओंको न रखनेवाली अनंतमती प्रसिद्ध हुई हैं तीसरे निर्विचिकित्सा अंगमें उद्दायन राजा प्रसिद्ध हुआ है। चौथा अमूढदृष्टि अगमें रेवती रानी प्रसिद्ध हुई है पांचवें उपगूहन अंगमें राजा उद्दायन प्रसिद्ध हुआ है। छठे स्थितिकरण अंगमें राजा श्रेणिक के पुत्र सर्वोत्तम मुनिराज वारिषेण प्रसिद्ध हुए हैं। सातवें वात्सल्य अंगमें प्रेम रखनेवाले धीरवीर मुनि विष्णुकुमार प्रसिद्ध हुए हैं तथा आठवें प्रभावना अंगमें धीर वीर मुनिराज वज्रकुमार प्रसिद्ध हुए है। इस प्रकार आठो अंगोंमें अनुक्रमसे प्रसिद्ध हुए हैं

भव्य जीवोंको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिए आठो अंगोंको धारण करनेवाले इन ऊपर कहे हुए सज्जन भव्य पुरुषोंका सदा अनुकरण करते रहना चाहिये ॥३४०—३४३॥

लक्षणं मूढतानां भो वद मे साम्प्रतं गुरो ! हे गुरो ! अब मेरे लिए मूढताओंका लक्षण कहिये ?

क्रोधस्य लोभस्य परात्मबुद्धे, र्विनाशनेनैव भवेत्सुधर्मः ।
स्वर्मोक्षदाता च जिनोक्त एव, त्यक्त्वा खलास्तं च जिनोक्तधर्मम् ३४४

स्नानेन नद्यां तपनेन चाग्नौ, ब्रुवन्ति पत्या मरणेन सार्द्धम् ।
धर्मं च तत्रैव चलन्ति निंद्ये, लोकस्य तेषामिति मूढतापि ॥३४५॥

इस संसारमें श्रेष्ठ धर्म क्रोधका त्याग करने लोभका त्याग करने और परपदार्थों में आत्मबुद्धिका त्याग करनेसे होता है, तथा वही श्रेष्ठ धर्म भगवान् जिनेंद्र देवका कहा हुआ है और स्वर्गमोक्षका देनेवाला है। जो दुष्ट लोग भगवान जिनेंद्रदेवके कहे हुए इस श्रेष्ठ धर्म को छोडकर नदीमें स्नान करने को धर्म बतलाते हैं, अग्निमें तपनेको धर्म बतलाते हैं और पतिके साथ मरनेको धर्म बतलाते हैं तथा उसी अपने बतलाये निंद्य धर्ममें स्वयं चलते हैं वा उस धर्मको धारण करते हैं उनका उस निंद्य धर्मका धारण करना लोमूढता कहलाती है।४४ ४५

निजात्मबाह्याश्च विवेकशून्या, ये केऽपिमूर्खा धनपुत्रहेतोः ।
भक्त्या कुदेवान् जिनधर्मबाह्यान्, नमन्ति वान्यान् खलु नासयन्ति ४६

नवाञ्छ तेषामिति देवतायाः, स्वराज्यहर्त्री खलु मूढतापि ।
ज्ञात्वेति भव्यैः परमार्थनिष्ठै, र्न वन्दनीया जिनबाह्यदेवाः ॥३४७॥

जो लोग अपने आत्मज्ञानसे रहित हैं और विवेक रहित हैं ऐसे मूर्ख धन वा पुत्रकी प्राप्तिके लिये जिनधर्मसे रहित ऐसे कुदेवोंको भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं और अन्य जीवोंसे नमस्कार कराते हैं ऐसे जीवोंका कुदेवोंको नमस्कार करना वा कराना देवमूढता कहलाती है। यह देवमूढता आत्मजन्य स्वराज्यको वा सुखको हरण करने वाली है। यही समझकर परमार्थमें तल्लीन हुए भव्य जीवोंको जिनधर्मसे रहित देवोंकी कभी वंदना नहीं करनी चाहिये ॥३४७॥

स्वात्मच्युतानां विषयाश्रितानां, गृहस्थयोग्यं भवदं च कार्यम् ।
प्रकुर्वतां क्लेशकरं कुकर्म, पाखंडिनां धर्मविरोधकानाम् ॥३४८॥
मंत्रादिहेतोर्व्यवहारतोऽपि, पूजा प्रशंसा क्रियते च यैर्हि ।
तेषां भवेद् दुःखभयं व्यथादं, पाखंडिमूढत्वमिति स्वभावात् ॥३४९॥

जो पाखंडी वा कुगुरु अपने आत्मज्ञानसे रहित हैं, विषयोंके लोलुपी हैं, धर्मके विरोधी हैं और इस पृथ्वीपर गृहस्थोंके योग्य तथा संसारको बढानेवाले कार्य किया करते हैं अथवा क्लेश उत्पन्न करनेवाले अनेक कुकर्म किया करते हैं ऐसे पाखंडी साधुओंकी जो लोग किसी मंत्रादि के लिये अथवा अपना व्यवहार दिखलानेके लिये पूजा वा प्रशंसा करते हैं उसको स्वभावसेही दुःख और पीडा देनेवाली पाखंडिमूढता कहते हैं ॥ ३४८ ॥ ३४९ ॥

साम्प्रतं सद्गुरो ! ब्रूहि षडायतनलक्षणम् ? प्रश्नः—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि छह आयतनोंका लक्षण क्या है ।

चतुर्गतीनां खलु कारणस्य, भक्त्या कुदेवस्य तथैव तस्य ।
भक्तस्य सत्यार्थविदा नरेण, स्तुतिःसुपूजा न कदापि कार्या ॥३५०॥
देवे सुभक्ते खलु तस्य कार्या, न द्वेषबुद्धिर्भवदायिकापि ।
ज्ञात्वेति वंद्यो भुवि बोधनार्थं, निर्दोषदेवः खलु तस्य भक्तः ॥३५१॥

उत्तरः—कुदेव और उनके भक्त चारों गतियोंमें परिभ्रमण करानेवाले हैं । अतएव पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले भव्य जीवोंको इन कुदेव और उनके भक्तोंकी भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति कभी नहीं करनी चाहिये । इसी प्रकार देव और उनके श्रेष्ठ भक्तोंमें संसारको बढानेवाली द्वेषबुद्धि भी कभी नहीं करनी चाहिये । यही समझकर भव्य जीवोंको अपना आत्मज्ञान उत्पन्न करनेके लिये निर्दोष देव और उनके भक्तोंकी ही वंदना करनी चाहिये ॥ ३५० ॥ ३५१ ॥

स्वमोक्षमार्गातिविनाशकस्य, ह्येकान्तपक्षैरतिदूषितस्य ।
संगः कुशास्त्रस्य च पाठकस्य, कार्यो न भव्यैः पठनं कदापि ॥३५२॥
शास्त्रे जिनोक्तेऽस्य च पाठके च, न द्वेषबुद्धिश्च कदापि कार्या ।
[illegible] जिनोक्तं मान्यं हि शास्त्रं भुवि बोधनार्थम् ॥३५३॥

इस संसारमें कुशास्त्र और उनके पढनेवाले लोग स्वर्ग और मोक्षके मार्गका अत्यंत नाश करनेवाले हैं और एकांतपक्षसे अत्यंत दूषित हैं। अत एव भव्यपुरुषोंको कुशास्त्र और उनके पढानेवालोंका समागम कभी नहीं करना चाहिये और न कभी उन शास्त्रोंका पठन पाठन करना चाहिये। इसीप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंमें तथा उनके पठन पाठन करनेवालोंमें कभी द्वेषबुद्धि न करनी चाहिये। यही समझकर अपना आत्मज्ञान प्रगट करने के लिये भव्यजीवोंको अपेक्षाकृत नयोंसे सुशोभित ऐसे भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंका सदाकाल पठन पाठन करना चाहिये ॥ ३५२ ॥ ३५३ ॥

कुमार्गनेतुः कुगुरोश्च तस्य, शिष्यस्य मिथ्यात्वविवर्द्धकस्य ।
समस्तसंतापनिधानमूर्तेः, संगो न कार्यो विनयोपचारः ॥३५४॥
न दुष्टबुद्धिः सुगुरौ सुशिष्ये, कार्या सुभव्यैरतिपापदा सा ।
गुरुर्विसंगी सुखशांतिदाता, भवेद्दयार्द्रो भुवि बोधनार्थम् ॥३५५॥

कुगुरु और उनके शिष्य दोनों ही मिथ्यात्वको बढाने वाले हैं, कुमार्गमें ले जानेवाले हैं और समस्त संताप के खजाने की मूर्ति हैं अतएव ऐसे कुगुरु और उनके शिष्यों का समागम कभी नहीं करना चाहिए और न कोई उन का उपचार विनय करना चाहिए। इसी प्रकार श्रेष्ठ भव्य जीवोंको सुगुरु और सुशिष्योंमें पाप उत्पन्न करनेवाली द्वेषबुद्धि भी कभी नहीं करनी चाहिए। भव्य जीवोंको अपना आत्मज्ञान प्रगट करने के लिए दयालु सुख शांतिको देनेवाला

और समस्त परिग्रहोंसे रहित ऐसा निर्ग्रन्थ गुरु ही मानना चाहिए ॥ ३५४ ॥ ३५५ ॥ भावार्थ कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु तथा इन तीनों के भक्तोंकी सेवा भक्ति करना छह अनायतन हैं और देव शास्त्र गुरु तथा इनके भक्तोंकी सेवा भक्ति करना छह आयतन हैं ॥

भो गुरो ! कथनीयानि मदानां लक्षणानि च ? प्रश्न—हे गुरो ! अब कृपाकर मदोंके लक्षण कहिये !

स्थापनात्पाठशालानां पठनात्पाठनात् भवेत् । ज्ञानोपकरणादेर्वा दानाद् ज्ञानं शिवप्रदम् ॥ ज्ञात्वेति ज्ञानदानं हि कार्यं निःस्वार्थतः सदा । प्राणेष्वितेष्वपि ज्ञानगर्वः कार्यो न हानिदः ॥३५७॥

उत्तरः—पाठशालाओंके स्थापन करनेसे तथा भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंके पठन पाठन करनेसे अथवा ज्ञानके उपकरणोंका दान देनेसे मोक्ष देनेवाला आत्मज्ञान प्रगट होता है । यही समझकर भव्य जीवोंको अपनी निःस्वार्थ बुद्धिसे सदा ज्ञानदान करते रहना चाहिये तथा अपने प्राणोंका नाश होनेपर भी संसारको बढानेवाला ज्ञानका मद कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३५६ ॥ ३५७ ॥

कुर्वन्ति स्वात्मशून्या हि पूजामदं भवप्रदम् । सन्तः स्वानन्दपुष्टा न ते जानन्ति निजात्मनः ॥ पूजा प्रतिष्ठा लोकेस्मिन् पुण्योदयेनलभ्येत । धर्मः परोपकारो वा कर्तव्यः प्राप्य तां शुभाम् ॥३५९॥ पूजामदो न कार्यो हि

ज्ञात्वेति भववर्द्धकः । सरसै रसिकैर्भव्यैर्जिनाज्ञाप्रतिपालकैः ॥३६०॥

जो मनुष्य आत्मज्ञानसे रहित हैं वे ही पुरुष संसारको बढानेवाला पूजा प्रतिष्ठा का अभिमान करते हैं। जो सज्जन हैं और आत्मजन्य आनंदसे परिपुष्ट हैं वे कभी पूजा प्रतिष्ठाका अभिमान नहीं करते। क्योंकि वे आत्माके स्वरूपको जानते हैं। वे समझते हैं कि इस संसारमें पूजा प्रतिष्ठा पुण्योदयसे प्राप्त होती है। अतएव इस शुभरूप पूजा प्रतिष्ठाको पाकर धर्मकार्य करना चाहिये अथवा परोपकार करना चाहिये। यही समझकर भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको प्रतिपालन करनेवाले रसिक और सरस भव्य जीवोंको संसारको वढानेवाला पूजा प्रतिष्ठाका अभिमान कभी नहीं करना चाहये ॥ ३५८ ॥ ३५९ ॥ ३६० ॥

भवत्युच्चकुले जन्म पुण्यात्स्वर्मोक्षसाधके। नीचे कुले ध्रुवं पापादर्हत्पूजादिरोधके ॥३६१॥ प्राप्तोऽस्म्यनन्तवारं कौ कुयोनिं मददोषतः। कार्यः कुलमदो नैव ज्ञात्वेति भवभीरुभिः ॥३६२॥

इस संसारमें पुण्यकर्मके उदयसे स्वर्ग मोक्षको सिद्ध करने योग्य उच्च कुलमें जन्म होता है तथा पापकर्मके उदयसे जिसमें भगवान अरहंत देवकी पूजा वा पात्रदान आदि न किया जा सके ऐसे कुलमें जन्म होता है। " मैं अपने अभिमानके दोषसे इस पृथ्वीपर अनंतवार कुयोनिमें उत्पन्न हुआ हूं " यही समझकर संसारके परिभ्रमणसे डरनेवाले भव्य जीवोंको अपने उच्चकुलका मद कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३६१ ॥ ३६२ ॥

दानादिधर्मकार्येणार्हदादिजन्मदायिनी । श्रेष्ठा जातिर्भवेल्लोके ज्ञात्वेति भवभीरुभिः ॥३६३॥ जात्या मदो न वै कार्यो मानवैर्दुष्टहेतुना । धर्मकार्यं सदा कार्यं श्रेष्ठा जातिर्भवेद्यतः ॥३६४॥

इस संसारमें भगवान अरहंत देवको जन्म देनेवाली श्रेष्ठ जाति पात्रदान आदि धर्मकार्योंसे ही उत्पन्न होती है। यही समझकर संसारसे भयभीत रहनेवाले भव्य जीवोंको अपने प्राण जानेपर भी किसी भी दुष्ट कारणसे जातिका मद नहीं करना चाहिये। तथा सदा काल धर्मकार्य ही करते रहना चाहिये जिससे कि सदा श्रेष्ठ जाति ही प्राप्त होती रहे ॥३६३॥३६४॥

मदादिदोषनाशाद्वा वीर्यान्तरायकर्मणः । क्षयाद्बलं भवेच्छ्रेष्ठं तपोध्यानादिसाधकम् ॥३६५॥ ज्ञात्वेति योजनीयं हि धर्मे जीवादिरक्षणे । हिंसने नैव जीवानां कार्यो बलमदोऽपि च ॥३६६॥

इस संसारमें तप और ध्यानादिक को सिद्ध करनेवाला श्रेष्ठ बल, मद आदि दोषोंके नाश होनेसे और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम होनेसे प्राप्त होता है। यही समझकर उस प्राप्त हुए बलको धर्मकार्योंमें अथवा जीवोंकी रक्षा करनेमें लगाना चाहिये। जीवोंकी हिंसा करने कभी नहीं लगाना चाहिये। तथा प्राप्त हुए बलका अभिमान भी कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३६५ ॥ ३६६ ॥

स्वात्मस्वादात्प्रभोर्ध्यानात्क्षमाशीलादियोगतः । ऋद्धिर्वाञ्छितदा स्याद्धि मिथ्यामदादिनाशतः ॥ ३६७ ॥ ज्ञात्वेति स्वात्मवाह्यो हि करोत्यृद्धेर्मदं मुनिः। धर्मज्ञः स्वात्मनिष्ठो न मददोषोत्करं विदन् ॥३६८॥

इस ससारमें जो विभूतियां वा ऋद्धियां प्राप्त होती हैं वे शुद्ध आत्माका स्वाद होनेसे भगवान जिनेन्द्रदेवका ध्यान करनेसे, क्षमा, शील आदिके पालन करनेसे, और मिथ्यामदोंके नाश करनेसे प्राप्त होती हैं। यही समझकर जो मुनि आत्मज्ञानसे रहित हैं वेही इन ऋद्धियों-का मद करते हैं। धर्मके स्वरूपको जाननेवाले, अपने आत्मा में तल्लीन रहनेवाले और मदके दोषोंको अच्छीतरह जाननेवाले सम्यग्दृष्टी पुरुष इन ऋद्धियोंका वा विभूतियोंका मद कभी नहीं करते ॥ ३६७ ॥ ३६८ ॥

अन्नौषधादिदानाद्वा मदादिदोषनाशतः । स्वर्मोक्षसाधकः कायो भवेद् ज्ञात्वेति सुन्दरः ॥३६९॥ ज्ञानध्यानतपोधर्मे योजनीयोऽतियत्नतः । वपुर्मदो न वै कार्यः कदापि भवभीरुभिः ॥३७०॥

इस संसारमें स्वर्गमोक्षको सिद्ध करनेवाला सुन्दर शरीर, अन्न औषध आदिके दान देनेसे और मद आदि दोषोंको नाश कर देनेसे प्राप्त होता है। यही समझकर संसारसे भय-भीत रहनेवाले भव्य जीवोंको यत्नपूर्वक अपना शरीर ज्ञान, ध्यान, तप और धर्ममें लगाना चाहिये। तथा प्राण जानेपरभी शरीरका मद कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३६९ ॥ ३७० ॥

इच्छारोधस्तपश्चेहं प्रोक्तं स्वर्मोक्षदायकैः । मोक्षेच्छापि जिनैःप्रोक्ता स्वर्मोक्षध्वंसिका ध्रुवं ॥ कथा तत्रान्यवस्तूनां केति बुद्ध्वा सुतरवतः । केषामपि मदः कार्यो न केवलं तपोमदः ॥३७२॥

स्वर्गमोक्षको देनेवाले भगवान जिनेन्द्रदेवने इच्छाका निरोध करना ही तपश्चरणका लक्षण बतलाया है। भगवान जिनेन्द्रदेवने मोक्षकी इच्छा करना भी स्वर्गमोक्षकी नाश करनेवाली बतलाई है। फिर भला अन्य वस्तुओंकी इच्छा करने की तो बात ही क्या है। इसप्रकार तपश्चरणके स्वरूपको अच्छीतरह समझकर किसीका भी मद नहीं करना चाहिये फिर भला तपश्चरणके मदकी तो बात ही क्या है। तपश्चरणका मद तो कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३७१ ॥ ३७२ ॥

इति श्रीमुनिराजकुंथुसागरविरचिते बोधामृतसारग्रंथे षोडशकारणभावना-दशधर्मपूर्णांगसम्यग्दर्शनवर्णनो नाम द्वितीयोऽधिकारः ।

इस प्रकार मुनिराज श्रीकुंथुसागरविरचित बोधामृतसार नामके ग्रंथमें सोलहकारण भावना दश धर्म और पूर्णांगसम्यग्दर्शनको वर्णन करनेवाला यह दूसरा अधिकार समाप्त हुआ।

अथ तृतीयोऽधिकारः ।

कीदृक् कार्यं गुरो ! लोकेऽनुप्रेक्षाचिन्तनं सदा ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमे सदा काल अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन किस प्रकार करना चाहिए ?

सर्वे पुण्यवशाः सन्ति धनराज्यादिबांधवाः । यावत्पुण्यं समं तावत्तिष्ठन्ति बंधुभावतः ॥३७३॥ तस्य क्षयात्पलायन्ते खगा इव तरुस्थिताः । नित्यः स्वात्मैव बोद्धव्योऽन्येऽनित्याः सकला इति ॥३७४॥

इस संसारमे धन, राज्य, भाई बधु आदि सब पुण्यके अधीन हैं, जबतक पुण्य का उदय रहता है तबतक सब भाई बंधुके प्रेमसे बने रहते हैं, जब उस पुण्यका क्षय हो जाता है तब वृक्षपर बैठे हुए पक्षियोंके समान सब भाग जाते हैं । इसलिये भव्य जीवोंको विचार करना चाहिये कि इस ससारमें एक अपना आत्मा ही नित्य है बाकीके समस्त पदार्थ अनित्य हैं इस प्रकारके चिंतन करनेको अनित्यानुप्रेक्षा कहते हैं ॥ ३७३ ॥ ३७४ ॥

गजाश्वमंत्रतंत्रादिविद्यागदकलादिकाः । यक्षेंद्रचक्रवर्त्याद्या मृत्युकाले न केऽप्यमी ॥३७५॥ रक्षंति यदि चेत्पाति ज्ञात्वेति पुण्यमेव हि । स्वात्मनः स्वात्मना रक्षा कार्या स्वानन्दसाधकैः ॥३७६॥

इस ससारमें इस जीवका जब मरणसमय आता है तब हाथी, घोडा, मत्र तंत्र विद्या औपधि, कला, यक्ष, इन्द्र और चक्रवर्ती आदि कोई भी इस जीवकी रक्षा नहीं कर सकता। यदि कोई इस जीवकी रक्षा कर सकता है तो एक पुण्य ही कर सकता है। यही समझकर अपने आत्मजन्य आनंदामृतको सिद्ध करनेवाले भव्य जीवोंको अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माकी रक्षा करनी चाहिये इसको अशरणानुप्रेक्षा कहते हैं। ॥ २७५ ॥ २७६ ॥

मोहवशात्स्वसा बंधुर्देवो मृत्वा पशुर्भवेत् । राज्ञी मृत्वा भवेद्दासी पुत्रो मृत्वा भवेत्पिता ॥२७७॥ भार्या मृत्वा भवेन्माता शत्रुर्मृत्वा भवेत्सखा । मोहं त्यक्त्वैव बुद्ध्वेत्यात्मानं स्वात्मनि चिन्तयेत् ॥२७८॥

इस मोहनीय कर्मके उदयसे मोहित हुआ यह जीव बहिन की पर्याय छोडकर भाई हो जाता है, देव मरकर पशु होजाता है, रानी मरकर दासी हो जाती है, पुत्र मरकर पिता हो जाता है, स्त्री मरकर माता हो जाती है और शत्रु मरकर मित्र हो जाता है। इस संसारके ऐसे परिभ्रमणको समझकर भव्य जीवों को अपने मोहका त्याग कर देना चाहिये और अपने ही आत्मामें अपने आत्माका चिन्तन करना चाहिये इसको संसारानुप्रेक्षा कहते हैं ॥२७७॥७८॥

शुभाशुभवशाज्जीवो म्रियते जायते सदा । एको राजोऽपि रंकोऽपि स्त्री नरोऽथ पशुर्द्विजः ॥२७९॥ कोऽपि कस्य सहायी न स्थितेऽपि बांधवे प्रिये। जायतेऽतो ध्रुवं लोके म्रियते यादृशं हि यैः ॥२८०॥ तादृशं भुज्यते कर्मा-

न्यथा भवेत्कदापि न । कार्यं ज्ञात्वेति कर्तव्यं तत्स्वरक्षा भवेद्यतः ॥३८१॥

इस संसारमे यह जीव शुभ और अशुभ कर्मके निमित्तसे अकेला ही मरता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेलाही राजा होता है, अकेला ही रंक होजाता है, अकेला ही स्त्री होता है, अकेला ही पुरुष होता है, अकेलाही पशु होता है और अकेला ही द्विज होता है वा पक्षी होता है। यद्यपि प्यारे भाई बंधु आदि सब रहते हैं तथापि कोई किसीका सहायी नहीं रहता। इसपरसे यह निश्चय रूपसे जाना जाता है कि जो जीव जैसा शुभाशुभ कर्म करते हैं वैसा ही उन्हें अकेला भोगना पडता है। वह कभी बदल नहीं सकता। यही समझकर भव्य जीवोंको ऐसा कार्य करते रहना चाहिये जिससे इस अपने आत्मा की रक्षा सदा होती रहे। इसको फिर कभी भी न मरना पडे ॥३७९–३८१॥

पिता माता स्वसा बंधुः पुत्री पौत्री सखा सखी। पुत्रः पौत्रो गृहं भार्या पुरराज्यादि भूषणम् ॥३८२॥ एते सर्वेऽपि सन्त्यन्ये स्वात्मनस्तत्त्वतो यथा। पूर्वतः पश्चिमः कार्योऽन्यो ज्ञात्वा न परे स्पृहा ॥३८३॥

वास्तवमे देखा जाय तो इस ससारमें माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्री, पोती, सखा, सखी, पुत्र, पौत्र, घर, स्त्री, पुर, राज्य और वस्त्रभूपण आदि समस्त पदार्थ इस आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं और ऐसे भिन्न हैं जैसे पूर्वसे पश्चिम सर्वथा भिन्न होती है। यही समझकर भव्य जीवोंको अपने आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें कभी इच्छा नहीं करनी चाहिये इसको अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते हैं ॥३८२॥३८३॥

मलमूत्रभृतो देहो रक्तमांसास्थिपूरितः । रजोवीर्यसमुत्पन्नो जातो घृणित-
मार्गतः ॥३८४॥ एतादृशः शरीरस्य किं योग्यं स्नेहलालनम् । तपस्तप्त्वा
च तत्प्राप्य साधयन्तु शिवं जनाः ॥३८५॥

यह शरीर मलमूत्रसे भरा हुआ है, हड्डी मांस और रुधिर से भरा हुआ है, रज वीर्यसे उत्पन्न हुआ है और घृणित मार्गसे प्रगट हुआ है। क्या ऐसे इस शरीरका स्नेहपूर्वक लालन पालन करना उचित है? ऐसे शरीरको पाकर तो घोर तपश्चरण करना चाहिये और घोर तपश्चरण कर लोगोंको मोक्षकी सिद्धि कर लेनी चाहिये इसको अशुचित्वानुप्रेक्षा कहते हैं ॥३८४॥३८५॥

रागद्वेषैश्च मिथ्यात्वैः सदास्रवः कुकर्मणः । स्वर्मोक्षरोधको नित्यं भवेच्च
भववर्द्धकः ॥३८६॥ त्यक्त्वा द्वेषादिमिथ्यात्वं ज्ञात्वेति तत्त्वतो जवात् ।
स्वात्मबुद्धिः सदा कार्या जिनधर्मे शिवप्रदे ॥३८७॥

इन संसारी जीवोंके राग द्वेष और मिथ्यात्वके कारण सदा अशुभ कर्मोंका आस्रव होता रहता है। यह आस्रव स्वर्ग मोक्षको रोकनेवाला है और सदाके लिये संसारके परिभ्रमणको बढानेवाला है अतएव भव्य जीवोंको बहुत ही शीघ्र आस्रवका यथार्थ स्वरूप समझ कर रागद्वेष और मिथ्यात्वका त्याग कर देना चाहिये तथा अपनी बुद्धि सदाकाल मोक्ष देनेवाले जिनधर्ममें लगाते रहनी चाहिये। इसको आस्रवानुप्रेक्षा कहते हैं ॥३८६॥३८७॥

आस्रवस्य निरोधश्च संवरो मोक्षदायकः। इच्छारोधस्तपोभिश्च क्षमाशांत्यादियोगतः ॥३८८ भवेत्स्वानन्दपानाद्धि ज्ञात्वा चैवं जिनागमात्। त्यक्त्वा द्वेषादिमिथ्यात्वं स्वात्मानं चिन्तयेत्सदा ॥३८९॥

आस्रवका निरोध करना संवर है। यह संवर मोक्षको देनेवाला है तथा यह संवर इच्छाका निरोध करनेरूप तपश्चरणसे होता है, क्षमा धारण करने अथवा शांति वा उपशम परिणामोंसे होता है, और अपने आत्मजन्य आनन्दामृतका पान करनेसे भी होता है। जिनागमसे इन सब बातोंको समझकर भव्य जीवोंको रागद्वेष और मिथ्यात्वका त्याग कर देना चाहिये और सदाकाल अपने शुद्ध आत्माका चिन्तन करते रहना चाहिये। इसको संवरानुप्रेक्षा कहते हैं ॥ ३८८ ॥ ३८९ ॥

गुप्त्या समित्या तपसा धर्मचारित्रचिन्तनैः। रागद्वेषयुतो जीवो विशेषेण विशुध्यति ॥३९०॥ अग्निना शुध्यति स्वर्णं तथा ध्यानेन योगिनः। ज्ञात्वेति च्छेदनीयं हि कर्मजालं जनैर्जवात् ॥३९१॥

यह रागद्वेषसहित जीव भी गुप्ति, समिति, तपश्चरण, धर्म, चारित्र और ध्यान से विशेष शुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार अग्निसे सुवर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार योगी लोग भी ध्यानसे ही शुद्ध होते हैं। यही समझकर भव्यजीवोंको बहुत शीघ्र अपना कर्मरूपी जाल छिन्न भिन्न कर नष्ट कर देना चाहिये। इसको निर्जरानुप्रेक्षा कहते हैं ॥ ३९० ॥ ३९१ ॥

लोके पापवशाज्जीवा दुःखं श्वभ्रगतौ परम् । तिर्यग्गतौ च संजातं देवे नरभवे तथा ॥३९२॥ भुंजते दीनभावेन ज्ञात्वा त्यक्त्वा शुभं क्रमात् । जिनधर्मे स्थितिः कार्या शुद्धात्मन्येव मोक्षदे ॥३९३॥

इस लोकमें भरे हुए समस्त संसारी जीव पापकर्मके उदयसे दीनता धारण कर नरकादिकोंमें परम दुःख भोगते हैं, तिर्यंचगतिमें महादुःख भोगते हैं तथा देव और मनुष्य गतिमें महादुःख भोगते हैं । यही समझकर भव्य जीवोंको अनुक्रमसे समस्त पापोंका त्याग कर देना चाहिये और जिनधर्ममें अपने आत्माको स्थिर कर देना चाहिये, अथवा मोक्ष प्राप्त करानेवाले अपने शुद्ध आत्मामें अपने आत्माको स्थिर कर देना चाहिये । इसको लोकानुप्रेक्षा कहते हैं ॥ ३९२ ॥ ३९३ ॥

प्राप्य स्वात्मोपलब्धिं च भवक्लेशादिनाशिनीम् । गतप्राणोऽपि कार्यो न प्रमादो भववर्द्धकः ॥३९४॥ स्वात्मबाह्यं कृतं कार्यं बहुवारं भवप्रदम् ज्ञात्वेति मोक्षदं कार्यं कर्तव्यं शांतिदायकम् ॥३९५॥

अपने शुद्ध आत्मा की उपलब्धि संसारके समस्त क्लेशोंको नाश करने वाली है उसको पाकर अपने प्राण जानेपर भी संसारके जन्म मरणको बढाने वाला प्रमाद कभी नहीं करना चाहिए । इस संसार में इस जीवने अपने आत्मस्वरूपसे रहित और संसारको बढाने वाले कार्य अनेक वार किये हैं । यही समझकर अब मोक्ष देनेवाले और सर्वथा शांति उत्पन्न करने

वाले कार्य इस जीवको सदा करते रहना चाहिये। इसको बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कहते हैं॥ ॥ २९४–२९५ ॥

प्रमादः प्राप्य कार्यो न धर्मं स्वर्मोक्षदायकम्। धर्मप्रसादाज्जीवेन् लभ्यते वाञ्छितं फलम् ॥२९६॥ स्वानन्दस्वादतः शीघ्रं स्वराज्यं लभतेऽचलम्। ज्ञात्वेत्यर्हत्प्रभोर्धर्मः कार्यः स्वर्मोक्षहेतवे ॥२९७॥

स्वर्गमोक्ष देनेवाले इस जैनधर्मको पाकर कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि यह जीव इस धर्मके प्रसादसे ही इच्छानुसार फलको प्राप्त होता है। अपने आत्मजन्य आनन्दामृत—रसका स्वाद लेनेसे शीघ्र ही मोक्ष रूप अचल स्वराज्य की प्राप्ति हो जाती है। यही समझ कर भव्यजीवों को स्वर्गमोक्ष प्राप्त करने के लिए भगवान अरहंत देवका कहा हुआ जिनधर्म अवश्य धारण करना चाहिये इसको धर्मानुप्रेक्षा कहते हैं ॥ २९६ ॥ २०७ ॥

परवस्तु परित्यज्य ध्यातव्यं स्वात्मवस्तु हि। सारांश इति बोद्धव्यः स्वरसरसिकैर्जनैः ॥२९८॥

इन सब बारह अनुप्रेक्षाओंके चिंतन करने का वा कहनेका मुख्य सारांश यही है कि जो भव्य जीव अपने आत्मजन्य आनंद रसके रसिक हैं उन्हें परपदार्थोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और अपने शुद्ध आत्माका ध्यान करते रहना चाहिए ॥ २९८ ॥

सप्ततत्वानि लोकेऽस्मिन् सान्ति कानि जगद्गुरो! प्रश्नः—हे जगद्गुरो! इस संसारमें

चिन्मात्रमूर्तिः परमार्थदृष्ट्या , स्वभावकर्ता निजसौख्यभोक्ता ।
सर्वोऽपि जीवो व्यवहारदृष्ट्या, कर्तास्ति भोक्तापि शुभाशुभस्य ॥३९९॥
संयोगतः पुद्गलकर्मणोऽयं, भवे महादुःखमये निमग्नः ।
शुद्धस्वभावो हृदि धारणीयः, ज्ञात्वेति भव्यैर्निजराज्यहेतोः ॥४०० ॥

परमार्थदृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह जीव चिन्मात्र मूर्ति वा चैतन्यस्वभावरूप है अपने निज स्वभाव का कर्ता है, और अपने आत्मजन्य सुखका भोक्ता है। यदि व्यवहार दृष्टिसे देखा जाय तो संसारी समस्त जीव शुभा शुभ कर्मोंके कर्ता हैं और उनके फलोंके भोक्ता हैं। पुद्गल कर्मोंके संयोगसे ये संसारी जीव अनेक महा दुःखमय इस संसार में निमग्न हो रहे हैं। यही समझकर भव्य जीवोंको अपना शुद्ध आत्म–स्वरूप–स्वराज्य प्राप्त करनेके लिये अपने हृदयमें अपने शुद्ध आत्माका स्वरूप चिन्तन करना चाहिये ॥ ३९९ ॥ ४०० ॥

धर्मोऽप्यधर्मो गगनं च कालोऽ–, जीवोऽप्यमूर्तो रहितः क्रियाभिः ।
गतिस्थितिस्थानविवर्तनादि, स्तेषां स्वभावो भवति स्वभावात् ॥४०१॥
प्रोक्तः सुमूर्त्तः खलु पुद्गलश्च, स्पर्शादियुक्तः सहितः क्रियाभिः ।
ज्ञात्वेति भव्यैर्हृदि भावनीय, मजीवतत्त्वं हि निजात्मबाह्यम् ॥४०२॥

अब अजीव तत्त्वको कहते हैं। धर्म अधर्म आकाश और काल ये चारों अजीव द्रव्य अमूर्त हैं और क्रिया रहित है। इनमेंसे धर्मद्रव्यका स्वभाव जीव पुद्गलोंके गमन करनेमें सहायता देना है, अधर्म द्रव्यका स्वभाव जीव पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायता देना है, आकाशका स्वभाव समस्त द्रव्योंको अवकाश देना है। इन और कालद्रव्यका स्वभाव द्रव्योंके परिवर्तन में सहायता देना है। इन द्रव्योंका यह स्वभाव स्वाभाविक है। इनके शिवाय अजीव तत्त्व एक पुद्गल और है। वह मूर्त्त है—स्पर्श रस गंध वर्णसहित है तथा क्रियासहित है इसप्रकार अजीव तत्त्वके पांच भेद हैं। इन सबका स्वरूप समझकर भव्य जीवोंको अपने हृदय में इस अजीव तत्त्वको अपने आत्मस्वरूप से सर्वथा भिन्न समझना चाहिये, तथा आत्मासे भिन्न ही चिन्तन करना चाहिये ॥ ४०१ ॥ ४०२ ॥

कर्मास्रवो येश्च शुभाशुभैर्वा, मिथ्यात्वरागादिकषायभावैः।
भावास्रवः स्यात्खलु तन्निमित्ताद्, द्रव्यास्रवो ज्ञानसुखादिहर्ता ॥४०३॥
प्रोक्तं स्वबुध्यास्रवतत्त्वमेवं, यथास्थितं भो व्यवहारदृष्ट्या।
निजात्मबाह्यो द्विविधास्रवोऽपि, ज्ञातव्य एवं परमार्थदृष्ट्या ॥४०४॥

जिन मिथ्यात्व राग आदि कषायरूप शुभ अशुभ परिणामोंसे कर्मोंका आस्रव होता है उसको भावास्रव कहते है। उस भावास्रवके निमित्तसे जो कर्म आते हैं उन कर्मोंके आनेको द्रव्यास्रव कहते हैं। यह द्रव्यास्रव ज्ञान सुख आदि आत्माके गुणोंको नष्ट करनेवाला है।

इस प्रकार आस्रवका जैसा स्वरूप है वही मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार व्यवहारदृष्टिसे निरूपण किया है। परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो ये दोनों ही प्रकारके आस्रव अपने शुद्ध आत्मासे सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार इनका स्वरूप समझना चाहिये ॥ ४०३ ॥ ४०४ ॥

भावेन येनात्मन एव यश्च, भवत्यवश्यं खलु कर्मबन्धः।
स भावबंधः सुखशांतिहर्ता, सर्वात्मदेशे खलु कर्मबन्धः ॥४०५॥
स द्रव्यबंधो भवदुःखदो वा, प्रोक्तो यथावद् व्यवहारदृष्ट्या।
निजात्मबाह्ये द्विविधोऽपि बंधो, ज्ञातव्य एवं परमार्थदृष्ट्या ॥४०६॥

आत्माके जिन परिणामोंसे कर्मोंका बंध अवश्य होता है उन परिणामोंको भावबंध कहते हैं यह भावबंध सुख और शान्ति को हरण करनेवाला है तथा आत्माके समस्त प्रदेशोंमें जो कर्मोंका बंधन होजाता है उसको द्रव्यबंध कहते हैं। यह द्रव्यबंध भी संसारके समस्त दुःखोंको देनेवाला है। इस प्रकार दृष्टिसे दोनों प्रकारके बंधका स्वरूप कहा है। यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो दोनों प्रकारका बंध अपने आत्मासे सर्वथा भिन्न है। ऐसा भव्य जीवोंको समझना चाहिये ॥ ४०५ ॥ ४०६ ॥

भावैर्हि कर्मागमनस्य यैश्चा, त्मनो हि मार्गश्च निरुध्यते सः।
भावस्वरूपः खलु संवरो हि, वा द्रव्यकर्मापि निरुध्यते यतः ॥४०७॥
द्रव्यस्वरूपो भुवि संवरः स, प्रोक्तो यथावद् व्यवहारदृष्ट्या।

। ।आत्मरूपो युगसंवरोऽपि, ज्ञातव्य एवं परमार्थदृष्ट्या ॥४०८॥

आत्माके जिन परिणामोसे कर्मोंके आनेका मार्ग रुकजाता है उसको भावसवर कहते हैं तथा उन परिणामोसे जो द्रव्यकर्मोंका रुक जाना है उसको द्रव्यसवर कहते हैं । यह भावसवर और द्रव्यसंवरका स्वरूप व्यवहार दृष्टिसे जैसा है वैसा ही कहा है । यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो दोनों प्रकारका सवर अपने आत्मस्वरूप ही है ऐसा समझना चाहिये ॥ ४०७ ॥ ४०८ ॥

यैरात्मनः शुद्धतरैश्च भावै, र्भवेदवश्यं खलु निर्जराद्या ।
भावस्वरूपा खलु निर्जरा सा, नश्यन्ति कर्माणि यदा तपोभिः ॥४०९॥
द्रव्यस्वरूपा ननु निर्जरा सा, प्रोक्ता यथावद् व्यवहारदृष्ट्या ।
निजात्मरूपा युगनिर्जरापि, ज्ञेया त्रिलोके परमार्थदृष्ट्या ॥४१०॥

आत्माके जिन शुद्ध परिणामोंसे कर्मोंकी निर्जरा होती है उन परिणामोंको भावनिर्जरा कहते हैं । तथा तपश्चरणके द्वारा जो कर्म नष्ट होते हैं उन कर्मोंके नाश होनेको द्रव्यनिर्जरा कहते हैं । इसप्रकार इन दोनो निर्जरा ओका यथार्थ स्वरूप व्यवहार दृष्टिसे कहा गया है । यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो तीनों लोकोंमें दोनों प्रकारकी निर्जरा अपने आत्मस्वरूप ही हैं ॥ ४०९ ॥ ४१० ॥

भावैश्च यैरात्मन एव शुद्धैः, प्रणश्यते चाखिलकर्मबन्धः ।

स भावमोक्षः सुखशांतिरूपः, यदात्मनो यः सकलप्रदेशात् ॥४११॥
पृथग्भवेद्वाखिलकर्मबन्धः, स द्रव्यमोक्षो व्यवहारदृष्टया ।
निजात्मरूपो द्विविधोऽपि मोक्षः, सुखप्रदोऽयं परमार्थदृष्टया ॥४१२॥

आत्माके जिन शुभ परिणामों से समस्त कर्मोंका बंध नष्ट होजाता है उसको भावमोक्ष कहते हैं । यह भावमोक्ष सुख और शांतिस्वरूप है । तथा जब आत्माके समस्त प्रदेशोंसे समस्त कर्मबंध अलग हो जाता है उसको द्रव्यमोक्ष कहते हैं । यह सब कथन व्यवहारदृष्टिसे समझना चाहिये । परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो अनंत सुख देनेवाला दोनों प्रकारका मोक्ष अपने आत्मस्वरूप ही है ॥ ४११ ॥ ४१२ ॥

व्यसनानां गुरो ! ब्रूहि लक्षणानि च सांप्रतम् ? प्रश्नः—हे गुरो ! अब कृपाकर व्यसनोंके लक्षण कहिये ।

स्थानं सकलपापानां चिन्तानामपि चापदाम् । व्याधीनामपि दुःखानां मूर्खाणां चिह्नमेव च ॥४१३॥ सर्वदुष्कर्मणां स्वामी द्यूत एवास्ति तत्त्वतः । त्याज्यो ज्ञात्वेति स द्यूतः सर्वथा स्वात्मतत्परैः ॥४१४॥

उत्तर।—पहला व्यसन जुआ खेलना है । यह जुआ खेलना समस्त पापोंका स्थान है, समस्त चिन्ताओं का और समस्त आपत्तियोंका स्थान है, समस्त व्याधियोंका स्थान है, समस्त दुःखोंका स्थान है, मूर्खता का चिन्ह है और समस्त पापकर्मोंका स्वामी है । वास्तवमें

यह जूआ ऐसा ही है। यही समझकर अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले भव्य पुरुषोंको इस जूआका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ ४१३ ॥ ४१४ ॥

सद्बुद्धिर्मांसलुब्धानां दयाधर्मः पलायते । पुण्यपापविचारोऽपि न्यायनीतिर्विनश्यति ॥४१५॥ मूर्खता वर्द्धतेऽशांतिर्ज्ञात्वेति मांसभक्षणम् । स्पर्शनं वापि धर्मज्ञैर्न कार्यं धर्मवत्सलैः ॥४१६॥

दूसरा व्यसन मांसभक्षण है । जो मनुष्य मांस भक्षणके लोलुपी हो जाते हैं उनकी सद्बुद्धि नष्ट हो जाती है, दयाधर्म दूर भाग जाता है, पुण्यपापका विचार नष्ट हो जाता है, न्याय और नीति नष्ट हो जाती है, मूर्खता बढ जाती है और अशांति बढ जाती है यही समझकर धर्ममें प्रेम रखनेवाले और धर्मके स्वरूपको जाननेवाले भव्य जीवोंको मांसका भक्षण कभी नहीं करना चाहिये तथा उसका स्पर्श भी कभी नहीं करना चाहिये ॥४१५॥४१६॥

क्षमा कृपा दमः शांतिर्लज्जापि मद्यपायिनाम् । कुलजातिपवित्रत्वं स्वात्मबुद्धिर्विनश्यति ॥४१७॥ मलिनत्वमविवेकोऽनात्मता परिवर्द्धते । ज्ञात्वेति मदिरापानं न कार्यं भवभीरुभिः ॥४१८॥

तीसरा व्यसन मद्यपान है । जो जीव मद्यपान करते हैं उनकी क्षमा, कृपा, इंद्रियदमन, शांति, लज्जा, कुल, जाति, पवित्रता और स्वात्मबुद्धि आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं, तथा मलिनता [illegible] और अनात्मता [आत्मविचारका अभाव] बढ [illegible] यही समझकर

संसारमें भयभीत रहनेवाले भव्य जीवोंको यह मद्यपान कभी नहीं करना चाहिये ॥४१७॥ ॥४१८॥

क्रूरताखेटलुब्धानां मूर्खताऽन्यायताखिला । निर्दयत्वं पशुत्वं च पापक्रिया प्रवर्द्धते ॥४१९॥ विवेको न्यायतास्तिक्ये दयाधर्मो विनश्यति । कार्यं ज्ञात्वेति नाखेटं कदापि स्वात्मतत्परैः ॥४२०॥

चौथा व्यसन शिकार खेलना है। जो मनुष्य शिकार खेलनेके लोलुपी होते हैं उनकी क्रूरता बढ जाती है, सब प्रकारकी मूर्खता और अन्यायता बढ जाती है तथा निर्दयता पशुपना और सब पापक्रियाएं बढ जाती हैं। इसी प्रकार उनका विवेक, न्यायपना, आस्तिक्य और दयाधर्म सब नष्ट हो जाता है। यही समझकर अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले भव्य जीवोंको यह शिकार खेलनेका पाप कभी नहीं करना चाहिये ॥४१९॥४२०॥

को वेश्यासेविनां बुद्धिः कुलं जातिर्बलं वपुः । मान्यताचारमार्गोऽपि शुभशीलं प्रणश्यति ॥४२१॥ दारिद्र्यं मूर्खता व्याधिरपात्रता प्रवर्द्धते । न वेश्यासेवनं कार्यं ज्ञात्वेति धर्मवत्सलैः ॥४२२॥

पांचवा व्यसन वेश्यासेवन है। इस संसारमें जो मनुष्य वेश्यासेवन करते हैं, उनकी बुद्धि, कुल, जाति, बल, शरीर, मान्यता, आचारमार्ग, और शुभ शील सब नष्ट हो जाते हैं, तथा दरिद्रता, मूर्खता, व्याधियां और अपात्रता आदि दुर्गुण सब बढ जाते हैं। यही समझ-

कर धर्ममें प्रेम रखनेवाले भव्य जीवोंको वेश्यासेवन कभी नहीं करना चाहिये ॥४२१–४२२॥

स्वपरज्ञानहीना हि स्तेयं कुर्वन्ति तत्त्वतः। अतः पदे पदे तेषां निंदा वा ताडनं भवेत् ॥४२३॥ स्वपरज्ञानिनः स्तेयं न कुर्वन्ति कदाचन। ज्ञात्वेति धर्मतत्त्वज्ञैः स्तेयं कार्यं कदापि न ॥४२४॥

छठा व्यसन चोरी करना है। जो पुरुष स्वपरज्ञान रहित हैं वास्तवमें वे ही चोरी करते हैं और इसीलिये पद पद पर उनकी निंदा होती है अथवा ताडन होती है। जो पुरुष अपने आत्माका तथा पर पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानते हैं वे कभी चोरी नहीं करते। यही समझकर धर्म और तत्त्वोंके स्वरूप को जाननेवाले भव्य जीवोंको कभी चोरी नहीं करनी चाहिये ॥ ४२३ ॥ ४२४ ॥

तिरस्कारापमानादिः परस्त्रीसेविनां सदा। सूतकं पातकं पापं कुलजातिच्युतिर्भवेत् ॥४२५॥ वर्द्धते वैरक्लेशोऽपि ज्ञात्वेति श्रावका जनाः। परस्त्रीसेवनं त्यक्त्वा भवेयुर्धर्मतत्पराः ॥४२६॥

सातवां व्यसन परस्त्रीसेवन है। जो पुरुष परस्त्री सेवन करते हैं उनका स्थान स्थान पर तिरस्कार वा अपमान होता है। उनके सूतक, पातक, पाप, कुलकी भ्रष्टता, जातिकी भ्रष्टता, वैर, और क्लेश आदि सदा बढते रहते हैं। यही समझकर श्रावकलोगोंको सदाके लिये परस्त्रीका त्याग कर देना चाहिये और सदाकाल धर्ममें तत्पर रहना चाहिये ॥४२५॥२६॥

पंच पापानि कान्येव तत्त्यागाद्वा व्रतानि च ? प्रश्न:—हे गुरो ! पांच पाप कौन २ हैं उनके त्याग करनेसे व्रत कहलाते हैं ?

भवन्ति दुःखिनो जीवा म्रियन्ते प्राणनाशतः । ज्ञात्वेति सर्वजीवानां योनिस्थानानि यत्नतः ॥४२७॥ केषामपि च जीवानां प्रमादान्नैव हिंसनम् । स्यादहिंसाव्रतं पूतं कौ स्वपरात्मरक्षकम् ॥४२८॥

उत्तर:—ये संसारी प्राणी प्राणोंके नाश होनेसे अत्यंत दुःखी होते हैं और मर जाते हैं । अत एव भव्य जीवोंको सबसे पहले यत्नपूर्वक जीवोंकी योनिस्थानोंको जानना चाहिये और फिर अपने प्रमादसे किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिए । इसको अहिंसाव्रत कहते हैं । यह अहिंसाव्रत पवित्र है और अपने आत्माकी तथा अन्य सब जीवोंकी रक्षा करनेवाला है ॥ ४२७ ॥ ४२८ ॥

त्यक्त्वा मिथ्यावचो निंद्यं स्वपरात्मविघातकम् । क्लेशवैरक्रियाकारि नितांतभ्रांतिभीतिदम् ॥४२९॥ यथार्थं शांतिदं मिष्टं वैरक्लेशादिनाशकम् । सापेक्षमीदृशं वाक्यं तत्सत्यं यत्र भाष्यते ॥४३०॥

इस संसारमें मिथ्यावचन अत्यंत निंद्य कहलाते हैं, ये मिथ्यावचन अपने आत्माका घात करनेवाले हैं और अन्य जीवोंका घात करनेवाले हैं, क्लेश और वैर बढाने वाली क्रियाओंको करनेवाले हैं, अत्यंत भ्रांति और भय को उत्पन्न करनेवाले हैं । ऐसे मिथ्यावचनोंका

त्याग कर जहांपर यथार्थ, शांति उत्पन्न करनेवाले, मिष्ट, वैरक्लेशको नाश करनेवाले और अपेक्षासहित वचन बोले जाते हैं उसको सत्यव्रत कहते हैं यह दूसरा व्रत है ॥ ४२९–४३० ॥

अदत्तं पतितं त्यक्तं ग्रामे मार्गे वनादिके । स्थापितं विस्मृतं गुप्तं स्वरसास्वादकैर्जनैः ॥४३१॥ परद्रव्यं स्वकीयं वा यदि चेत्संशयास्पदम् । न ग्राह्यं श्रावकैर्नित्यं तदचौर्यव्रतं भुवि ॥४३२॥

जो दूसरेका द्रव्य किसी गांवमें, मार्गमें वा वन पर्वत पर गिर गया है, वा कोई छोड गया है वा कोई रख गया है, वा भूलगया है वा छिपा गया है ऐसे परद्रव्यको विना दिये अपने आत्मजन्य आनदरसका पान करनेवाले भव्य श्रावकों को कभी नहीं लेना चाहिये । यदि कोई द्रव्य अपना ही हो परंतु यह मेरा है वा नहीं इस प्रकारका जिसमें संदेह उत्पन्न हो जाय ऐसा द्रव्य भी विना दिया हुआ श्रावकोंको ग्रहण नहीं करना चाहिये । ऐसे इस व्रतको इस संसारमें अचौर्यव्रत कहते हैं ॥ ४३१–४३२ ॥

सम्यग्ज्ञानमयैर्जीवैर्यदि स्वस्त्री न वर्ज्यते । त्याज्यास्तथापि सर्वाश्च त्रियोगैः परयोषितः ॥४३३॥ वैराग्यभावतस्त्यक्त्वा योषिन्मात्रं निजात्मनि । ये रमन्ते व्रतं ब्रह्म पूर्णं तेषां प्रपद्यते ॥४३४॥

ये समस्त जीव, सम्यग्ज्ञानमय हैं । ऐसे इन जीवोंसे यदि अपनी स्त्रीका त्याग नहीं किया जाता है तो भी उनको मन वचन कायसे समस्त परस्त्रियोंका त्याग अवश्य कर देना

चाहिये। इसको ब्रह्मचर्यव्रत कहते हैं। इसके सिवाय जो पुरुष वैराग्य कर और स्त्रीमात्रका त्याग कर अपने आत्मामें लीन हो जाता है उनके यह ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण रीतिसे प्रगट हो जाता है ॥ ४३३ ॥ ४३४ ॥

बाह्यान्तरं संगं यस्त्यक्त्वा क्लेशादिवर्द्धकम्। स्वाध्यायादौ रतस्तस्य संगत्यागव्रतं भवेत् ॥४३५॥ परचतुष्टयं पश्चात्त्यक्त्वा संतापकारकम्। आनन्दमंदिरं सोऽयं यस्तिष्ठेत्स्वचतुष्टये ॥४३६॥

जो मनुष्य क्लेश और दुःखोंको देनेवाले अंतरंग और बाह्य परिग्रहों का त्याग कर स्वाध्यायादिकमें लीन होता है उसके परिग्रहत्याग नामका व्रत कहलाता है। तदनंतर संताप उत्पन्न करनेवाले परचतुष्टयका त्यागकर जो अपने स्वचतुष्टयमें लीन रहता है उसे ही इस संसारमें आनदका घर समझना चाहिये ॥४३५॥४३६॥

पापव्यसनयोर्मध्ये को भेदोऽस्ति गुरो वद? प्रश्नः—हे गुरो! अब कृपाकर कहिये कि पाप और व्यसनमें क्या भेद है?

येनात्माधमकार्येण विनायं नैव तिष्ठति। तदेव व्यसनं प्रोक्तं वैरक्लेशादिवर्द्धकम् ॥४३७॥ स्वपदायोग्यकार्यं हि तीव्रकर्मोदये सति। कदाचित्क्रियते यद्धि प्रोक्तं पापं तदेव च ॥४३८॥

उत्तरः—यह आत्मा जिस नीचकार्यके विना न रह सके उस वैर क्लेश आदि बढा

नेवाले कार्यको व्यसन कहते हैं। तथा अपने तीव्र कर्मोंके उदयसे जब यह आत्मा अपने पदस्थके अयोग्य कार्यको कर बैठता है तब उसको पाप कहते हैं ॥४३७॥४३८॥

इति श्रीमुनिराजकुंथुसागरविरचिते बोधामृतसारग्रंथे अनुप्रेक्षा-
सप्ततत्त्वव्यसनपापवर्णनो नाम तृतीयोऽधिकारः।

इस प्रकार मुनिराज श्रीकुंथुसागरविरचितबोधामृतसार नामके ग्रंथमें अनुप्रेक्षा सप्ततत्त्व, व्यसन व पापको वर्णन करनेवाला यह तीसरा अधिकार समाप्त हुआ।

अथ चतुर्थोऽधिकारः।

श्रावकः पाक्षिकः कोऽसौ गुरो ! मे वद सांप्रतम् ? प्रश्नः—हे गुरो अब मेरे लिये कहिये कि पाक्षिक श्रावक किसको कहते हैं ?

विनष्टघातिकर्मत्वाल्लोकालोकादिबोधनात्। स्वप्रदेशे स्थिरत्वाद्धि तृप्तत्वात्स्वचतुष्टये ॥४३९॥ अर्हन्नेव भवेद्देवो यो वा स्वमोक्षदायकः। श्रद्धेति निश्चयो यस्य धर्मज्ञः स च पाक्षिकः ॥४४०॥

उत्तर—भगवान अरहंत देवने अपने समस्त घातिकर्मोंका नाश करादिया है, लोक अलोक का तथा समस्त पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न कर लिया है, वे अपने आत्मप्रदेशोंमें

ही सदा स्थिर रहते हैं और अपने ही चतुष्टय में सदा तृप्त रहते हैं इसी लिये वे अरहंत भगवान देव कहलाते हैं, तथा वे ही भगवान स्वर्ग मोक्षको देनेवाले हैं जिस किसी पुरुषके इस प्रकारकी श्रद्धा वा निश्चय है उस धर्मात्मा पुरुषको पाक्षिक श्रावक कहते हैं ॥४३९॥४४०॥

ज्ञानध्यानक्षमादक्षः स्वानन्दास्वादकः सदा। तरणे तारणे शक्तो निरारंभोऽपरिग्रहः ॥४४१॥ वंद्यः पूज्यःसदा सेव्यो निर्ग्रंथो गुरुरेव हि। श्रद्धेति निश्चयो यस्य धर्मज्ञः स च पाक्षिकः ॥४४२॥

जो गुरु ज्ञान ध्यान और क्षमा धारण करनेमें चतुर हैं, अपने आत्मजन्य आनंद रसका स्वाद लेनेवाले हैं इस संसारमें स्वयं पार होने और अन्य जीवोंको पार करनेमें समर्थ हैं जो आरंभरहित हैं और परिग्रहरहित हैं वे निर्ग्रंथ गुरु ही सदा पूजा वंदना करने योग्य हैं और सेवा करने योग्य हैं। जिस किसी पुरुषको इस प्रकारकी श्रद्धा वा निश्चय है उस धर्मात्मा पुरुषको पाक्षिक श्रावक कहते हैं ॥४४१॥४४२॥

नयप्रमाणसिद्धं च सापेक्षकथनाश्रितम्। पदार्थानां यथावद्धि द्योतकं भ्रान्तिनाशकम् ॥४४३॥ शास्त्रं जिनोक्तमेव च ग्राह्यं वंद्यं सुखप्रदम्। श्रद्धेति निश्चयो यस्य धर्मज्ञः स च पाक्षिकः ॥४४४॥

जो नय और प्रमाणोंसे सिद्ध पदार्थोंका कथन करते हैं जो अपेक्षापूर्वक तत्वोंका कथन

करते हैं, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको दिखलाते हैं और भ्रांति वा संदेह को नष्ट करते हैं ऐसे भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्र ही पठन पाठन करने योग्य हैं, वंदना करने योग्य हैं और सुख देनेवाले हैं ऐसी श्रद्धा और निश्चय जिस किसी पुरुषके होता है वही धर्मात्मा पुरुष पाक्षिक श्रावक कहलाता है ॥ ४४३ ॥ ४४४ ॥

यस्य चित्ते दयाधर्मो वर्द्धते स्वात्मपोषकः । मैत्रीप्रमोदभावोऽपि वैरक्लेशादिनाशकः ॥४४५॥ यश्च तीव्रोदयादेव ह्यप्रत्याख्यानकर्मणः । त्यक्तुं कान्यपि वस्तूनि न शक्नोति तथापि यः ॥४४६॥ क्षयोपशमयोगाच्चानन्तानुबंधिकर्मणः । ग्रहीतुमपि स्वपरज्ञानतो नेच्छति स्वयम् ॥४४७॥ उच्चकुलादिसंस्कारादहिंसाधर्मपक्षतः । स्वभावात्पंचपापानि न कुर्याद् व्यसनादिकम् ॥४४८॥ शास्त्रोक्तविधिना येन धृतं यज्ञोपवीतकम् । पाक्षिकः स च विज्ञेयो मद्यमांसादिदूरगः ॥४४९॥

जिसके हृदयमे अपने शुद्ध आत्मा को पुष्ट करनेवाला दयाधर्म बढ रहा है, तथा वैर और क्लेशको नाश करनेवाला मैत्रीभाव और प्रमोदभाव भी बढ रहा है, जो अप्रत्याख्यानावरण कर्मके तीव्र उदयसे किसी भी पदार्थ के त्याग करनेमे समर्थ नहीं है तथापि अनन्तानुबंधि कर्मके क्षयोपशम होनेसे और स्वपरज्ञान प्रगट हो जानेसे उन परपदार्थोंको ग्रहण करने की स्वय इच्छा नहीं करता। जो उच्च कुलके संस्कार होनेसे तथा अहिंसा धर्मकी पक्ष होनेसे

स्वभावसे ही पांचों पापोंको नहीं करता और व्यसनोंका सेवन करता है तथा शास्त्रोक्तविधि से जिसने यज्ञोपवीत धारण कर रक्खा है और मद्य मांसादिकसे सदा दूर रहता है उसको पाक्षिक श्रावक समझना चाहिये ॥४४५—४४९॥

मुक्त्वैनं पाक्षिकं शेषाः श्राद्धाः सर्वेऽपि नैष्ठिकाः। अथ तेषां क्रमाच्चिह्नं यथावत्कथयाम्यहम् ॥४५०॥

पाक्षिकको छोडकर बाकीके सब श्रावक नैष्ठिक कहलाते हैं। अब आगे अनुक्रमसे उन नैष्ठिक श्रावकोंके यथार्थ चिन्ह कहते हैं ॥ ४५० ॥

क्षयोपशमयोगाद्धि योऽप्रत्याख्यानकर्मणः। निर्दोषान्पालयेन्मूलगुणान् पापभयेन यः ॥४५१॥ पंचविंशतिदोषान्यस्त्यक्त्वा सम्यक्त्वघातकान्। देवशास्त्रगुरुश्रद्धां करोति व्यसनोज्झितः ॥४५२॥ पंचाणुव्रतपूर्त्यर्थं द्वितीयां प्रतिमां तथा। ग्रहीतुं यतते नित्यं त्यक्तुं क्रोधादिकं जवात् ॥४५३॥ परमानन्दपानार्थं स्वमोक्षहेतवे तथा। पूर्वोक्तधर्मयुक्तो यः पूतो दर्शनिको नरः ॥४५४॥

जो मनुष्य अप्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशम होनेसे पापोंके डरसे समस्त मूलगुणोंको अतिचाररहित पालन करता है, सम्यग्दर्शनको घात करनेवाले पच्चीसों दोषोंको त्यागकर

तथा देवशास्त्रगुरु में अटल श्रद्धान रखता है। इसके सिवाय पांचों अणुव्रतोंको पूर्ण करने के लिये दूसरी प्रतिमाको पूर्ण करने का प्रयत्न करता है तथा क्रोधादिको छोडनेका शीघ्र प्रयत्न करता ह और स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करने के लिये आत्मजन्य परमानन्दको पीने का प्रयत्न करता हैं। इस प्रकार ऊपर कहे हुए धर्मोंको जो पालन करता है उस पवित्र मनुष्यको पहिली दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाला कहते हैं ॥४५१–४५४॥

भवेयुरेवं ज्ञात्वेति मुनिवरस्वात्मरक्षकाः । दर्शनप्रतिमायाश्च धारकाः प्रतिपालकाः ॥ ४४५ ॥

यही समझकर भव्यजीवोंको यह दर्शनप्रतिमा धारण करनी चाहिये, पालन करनी चाहिये और मुनियोंके समान अपने आत्माकी रक्षा करनेवाले वन जाना चाहिये ॥४५५॥

यः पंचाणुव्रतं धीरो गृहीत्वा स्वात्मसाधकम् । रक्षति स्वात्मवन्नित्यं निरतिचारपूर्वकम् ॥४५६॥ गुणव्रतं तथा धृत्वाणुव्रतवर्द्धकं सदा । चतुःशिक्षाव्रतं धृत्वा यन्मुनिव्रताशिक्षकम् ॥४५७॥ भेदविज्ञानशास्त्रं यः करे धृत्वैव तिष्ठति । द्वितीयप्रतिमाधारी श्रावकः स च धार्मिकः ॥४५८॥

जो धीर वीर पुरुष अपने शुद्ध आत्माको सिद्ध करनेवाला पांचों अणुव्रतोंको धारण करता है तथा अपने आत्माके समान सदाकाल अतिचाररहित उनकी रक्षा करता है, इनके सिवाय जो अणुव्रतोंको बढाने वाले गुणव्रतों को सदाके लिये धारण करता है. जो मुनियों

के व्रतोंकी शिक्षा देते हैं ऐसे चारों शिक्षाव्रतोंको धारण करता है और जो अपने हाथ में सदा भेदविज्ञानरूप शस्त्रको धारण करता रहता है। उस धार्मिक श्रावक को दुसरी व्रत-प्रतिमा को धारण करनेवाला कहते हैं ॥४५६—४५८॥

अणुव्रतानि कानीह गुणशिक्षाव्रतानि च। के वा तेषामतीचारा भो गुरो वद साम्प्रतम् ?॥ प्रश्न—हे गुरो! अब यह बतलाइये कि इस संसारमें पाच अणुव्रत कौन २ है, तीन गुणव्रत कौन २ है और चार शिक्षाव्रत कौन २ है और, तथा उन सब व्रतोंके अतिचार कौन २ हैं।

जीवानां द्रव्यभावानां प्राणानां द्वेषरागतः। व्यपरोपणमेव स्याद्धिंसा स्वात्मविनाशिनी ॥४५९॥ ज्ञात्वेति प्राणिनां कार्यं न प्राणव्यपरोपणम्। तदहिंसाव्रतं पूतं भवेद् वाञ्छितदं क्रमात् ॥४६०॥

उत्तर—किसी रागसे वा द्वेषसे जीवोंके द्रव्यप्राण वा भावप्राणोंका व्यपरोपण करना वियोग करना हिंसा कहलाती है। यह हिंसा अपने ही आत्माका नाश करनेवाली है। यही समझकर भव्य जीवोंको प्राणियोंके प्राणोंका वियोग कभी नहीं करना चाहिये। इसीको पवित्र अहिंसाव्रत कहते हैं। यह अहिंसाव्रत अनुक्रमसे इच्छानुसार स्वर्गमोक्षके फल देनेवाला है॥ ४५९॥ ४६०॥

वधबन्धादिकश्छेदोऽतिभारोपणं तथा। अन्नपाननिरोधोऽपि न कार्यो धर्मवत्सलैः ॥४६१॥

धर्ममें प्रेम रखनेवाले भव्य पुरुषोंको वध अर्थात् लकडी थप्पडसे मारना, बंध अर्थात् किसी जीवको रस्सी संकलसे बांधना, छेद अर्थात् नाक कान वा अन्य अंगोंको छेदना, अतिभारारोपण अर्थात् अधिक बोझा लादना और अन्नपान निरोध अर्थात् समयपर खाने पीनेको न देना वा भोजन पान रोक देना आदि इस अहिंसाव्रतके अतिचारोंका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। भावार्थ-ये अहिंसाणुव्रतके अतिचार हैं इन का भी त्याग कर देना अत्यावश्यक है ॥ ४६० ॥ ४६१ ॥

यत्रासदभिधानं हि प्रोच्यते च प्रमादतः। तदेवेहानृतं प्रोक्तं सर्वपापप्रदं जवात् ॥४६२॥ ज्ञात्वेति धार्मिकैर्भव्यैः पुण्यधर्मप्रवृद्धये। वाच्यं सदभिधानं हि तत्सत्यव्रतमुच्यते ॥४६३॥

इस संसारमें जहांपर प्रमादके वश होकर असत् वा मिथ्याभाषण किया जाता है उसको असत्य भाषण कहते है। यह असत्य भाषण बहुत शीघ्र समस्त पापोंको उत्पन्न करने वाला है। यही समझकर धर्मात्मा भव्य जीवोंको अपने पुण्य और धर्मकी वृद्धि करनेके लिये सदा सत्यभाषण ही करना चाहिये। इस सत्यभाषण करनेको सत्याणुव्रत कहते हैं ॥ ४६२ ॥ ४६३ ॥

एवं मिथ्योपदेशं च रहोऽभ्याख्यानकं तथा। कूटलेखक्रियादिश्च न्यासापहार एव च ॥४६४॥ साकारमंत्रभेदोऽपि न कार्यो धर्मवत्सलैः। सत्यव्रता-

तिचाराश्च त्याज्याः स्वात्मप्रशान्तये ॥४६५॥

इसी प्रकार किसी को मिथ्या उपदेश भी नहीं देना चाहिये, रहोऽभ्याख्यान अर्थात् एकांतमें कहीहुई क्रियाओं को प्रगट नहीं करना चाहिये, झूटा लेख नहीं लिखना चाहिये, न्यासापहार अर्थात् किसी की धरोहर को मारना नहीं चाहिये और साकार मंत्रभेद अर्थात् मुख आदि की आकृतिसे किसी के हृदयकी वात जानकर भी उसको प्रगट नहीं करना चाहिये। इस प्रकार मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद ये पांच सत्यव्रतके अतिचार हैं। अपने आत्माको अत्यंत शांत करनेके लिये धर्ममें प्रेम रखनेवाले भव्य जीवोंको इन सब अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ ४६४ ॥ ४६५ ॥

स्तेयं प्रमत्तयोगाद्धादत्तादानं ध्रुवं भवेत्। हिंसाकरं यतो लोके प्राणेभ्योऽपि धनं प्रियम् ॥४६६॥ ज्ञात्वेति धार्मिकैर्नैव कार्यं स्तेयं भवप्रदम्। तदचौर्यव्रतं पूतं पालनीयं प्रयत्नतः ॥४६७॥

प्रमादके निमित्तसे विना दिये हुए दूसरोंके पदार्थोंको लेलेना चोरी है। चोरी करना हिंसा ही करना है, क्योंकि इस संसारमें धन प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होता है। यही समझकर धार्मिक पुरुषोंको जन्म मरणरूप संसारको वढाने वाली चोरी कभी नहीं करनी चाहिये। इस चोरी न करनेको पवित्र अचौर्यव्रत कहते हैं। यह अचौर्यव्रत प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये ॥ ४६६—४६७ ॥

त्याज्यश्चौरप्रयोगश्च चौरार्थादानमेव च। राज्यविरुद्धकार्यं च प्रतिरूपाक्रिया तथा ॥४६८॥ नैव हीनाधिकः कार्यो मानोन्मानो भवप्रदः। स्वान्यशांत्यर्थिभिर्भव्यैर्व्रतादिपूर्णहेतवे ॥ ४६९ ॥

चोरीका प्रयोग बताना, चोरी के पदार्थ अपने घरमें रखना या लेलेना, राज्यके विरुद्ध कार्य करना, अधिक मूल्यके पदार्थोंमें कम मूल्यके पदार्थ मिलाकर बेचना और तौलने वा नापने के साधनोंको छोटे बडे रखना ये पांच अचौर्यव्रतके अतिचार हैं। ये अतिचार संसारको बढाने वाले हैं इसलिये अपनी आत्मामें और अन्य जीवोंमें शांति चाहनेवाले भव्य जीवोंको अपना अचौर्यव्रत पूर्ण करनेके लिये इन अतिचारोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ ४६८—४६९ ॥

मनसा वपुषा वाचा परस्त्री यत्र वर्ज्यते। चतुर्थं तद्व्रतं ज्ञेयं ब्रह्माणुव्रतसंज्ञकम् ॥ ४७० ॥ मैथुनं तु महत्पापं बहुजीवविघातकं। तत्त्याज्यं दूरतो भव्यैश्चिदानन्देषु तन्मयैः ॥ ४७१ ॥

जहांपर मन वचन कायसे परस्त्रीका त्याग किया जाता है उसको ब्रह्मचर्याणुव्रत नामका चौथा व्रत कहते हैं। मैथुनसेवन करना महापाप है और अनेक जीवोंकी हिंसा करनेवाला है, अत एव आत्मासे उत्पन्न हुए चिदानंदमें तल्लीन रहनेवाले भव्य जीवोंको इस मैथुन सेवन करनेका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥ ४७०—४७१ ॥

**परिणीतेत्वरिकाया गमनं भववर्द्धकं। तथैवापरिणीताया अन्यस्योपशमस्त-
था ॥४७२॥ न कार्यं कामतीव्राभिनिवेशं पापकारणं। स्वानंदस्वादकैः
कार्याऽनंगक्रीडा कदापि न ॥४७३॥**

किसी विवाही हुई कुलटा स्त्रीके यहां आना जाना, विना विवाही हुई कुलटा स्त्रीके यहां आना जाना, दूसरे के पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना, कामसेवनके तीव्रभाव रखना और अनंगक्रीडा करना ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार हैं। पांचोंही अतिचार संसारको बढानेवाले हैं और पाप उत्पन्न करनेवाले हैं अतएव अपने आत्मजन्य आनंदका स्वाद लेनेवाले भव्य जीवोंको इन सबका त्याग देना चाहिये। इन अतिचारों को कभी नहीं लगने देना चाहिये ॥ ४७२ ॥ ४७३ ॥

**प्रमत्तयोगतो यत्र धनधान्यादि गृह्यते। परिग्रहो ध्रुवं तत्र भवेत्स्वर्मोक्ष-
नाशकः ॥४७४॥ ज्ञात्वेति धार्मिकैर्भव्यैर्न ग्राह्यं परवस्तु च। स्ववस्तु-
परिमाणं च कर्तव्यं मोक्षहेतवे ॥४७५॥**

जहांपर प्रमादके निमित्तसे धन धान्यादिक का ग्रहण किया जाता है वहांपर उसको परिग्रह कहते हैं। यह परिग्रह ही स्वर्गमोक्षका नाश करनेवाला है। यही समझकर धर्मात्मा भव्य जीवोंको मोक्ष प्राप्त करने के लिये पर पदार्थोंका ग्रहण तो कभी करना ही नहीं चाहिये और जो अपने पदार्थ हैं उनका परिमाण नियत कर लेना चाहिये। इसी को परिग्रह परिमाणाणुव्रत कहते हैं ॥४७४॥४७५॥

क्षेत्रवास्तुहिरण्यस्य दासीदासधनस्य च । सुवर्णधान्यकुप्यादेः प्रमाणातिक्रमस्तथा ॥ ४७६ ॥ न कार्यः क्रोधलोभोऽपि संसारमूलवर्द्धकः । स्वानन्दस्वादकैर्भव्यैर्व्रतानां परिपालकैः ॥ ४७७ ॥

क्षेत्र, वास्तु, (खेत व घर) हिरण्य (चांदी) सुवर्ण, धन धान्य, दासी दास, और (वर्तन वस्त्रादिक) ये सब बाह्य परिग्रह कहलाते हैं। इनके प्रमाणका उल्लघन करना परिग्रह-परिमाणके अतिचार कहलाते हैं। क्रोध लोभ भी ससारके जन्ममरणको बढानेवाले हैं। अत एव अपने आत्मजन्य आनदका स्वाद लेनेवाले और व्रतोंको पालन करनेवाले भव्य जीवोंको इन सब अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये तथा क्रोध लोभका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ ४७६—४७७ ॥

निरोधार्थं च पापानां नानादुःखविधायिनां । नदीपर्वतदेशैश्च मर्यादीकृत्य भूतले ॥ ४७८ ॥ प्रमाणं दशधा दिक्षु कार्यमामृत्यु गेहिभिः । संसारभोगकामार्थं न गच्छामि ततो वहिः ॥४७९ ॥ इति संकल्प एव स्याद्दिग्व्रतं शांतिदायकं । प्रोक्तं जिनेंद्रदेवेन सर्वपापप्रणाशकम् ॥ ४८० ॥

अनेक प्रकारके दु ख देनेवाले पापोको रोकने के लिये श्रावकोंको अपने मरणपर्यंत इसी पृथ्वीपरके नदी पर्वत और देशोंके द्वारा मर्यादा नियत कर दशों दिशाओंका परिमाण नियत कर लेना चाहिये तथा इस मर्यादाके वाहर ससार भोग और कामादिक के लिये कभी नहीं

जाऊंगा ऐसा संकल्प कर लेना चाहिये। इसी संकल्पको वा दशों दिशाओंके परिमाण करनेको दिग्व्रत कहते हैं। यह दिग्व्रत अत्यंत शांति देनेवाला है, समस्त पापोंको नाश करनेवाला है और भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ४७८—४८० ॥

न चोर्ध्वातिक्रमः कार्यो नैवाधोऽतिक्रमस्तथा । तिर्यग्व्यतिक्रमो नैव क्षेत्रवृद्धिर्न दुःखदा ॥ ४८१ ॥ नैवं विस्मरणं कार्यं मर्यादायाः सुगेहिभिः । इति पंचातिचाराश्च त्याज्याः सकलधार्मिकैः ॥ ४८२ ॥

समस्त धर्मात्मा श्रावकोंको ऊर्ध्व दिशा की मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये, अधोदिशाकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये, तिरछी और की आठों दिशाओंकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये, मर्यादा किये हुए क्षेत्रको वढाना नहीं चाहिये और तिर्यग् दिशाओंका उल्लंघन करना, क्षेत्रकी मर्यादा वढालेना और मर्यादा भूल जाना ये पांच दिग्व्रतके अतिचार हैं। धर्मात्मा श्रावकोंको इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥४८१–४८२॥

पक्षमासादिपर्यन्तं गृहग्रामवनैः सदा । मर्यादीकृत्य देशस्य परिमाणं सुगेहिभिः ॥ ४८३ ॥ कार्यं प्रतिदिनं तत्तु व्रतं देशावकाशिकं । सर्वपापविनाशार्थमहिंसाव्रतवृद्धये ॥ ४८४ ॥

श्रावकोंको पक्ष महिना आदि काल की मर्यादा नियत कर घर गांव वगीचा आदिके द्वारा देशकी मर्यादा नियत कर प्रतिदिन उन देशका परिमाण नियत कर लेना चाहिये।

भावार्थ–दिग्व्रतमे जो जन्मभरके लिये मर्यादा नियत की है उसमेंसे प्रतिदिन घटाकर थोडी रखनी चाहिये । इसको देशावकाशिक व्रत कहते हैं यह व्रत समस्त पापोंको नाश करनेके लिये और अहिंसाव्रत की वृद्धि करनेके लिये किया जाता है ॥ ४८३–४८४ ॥

आनयनाद्बहिर्देशात्प्रेष्यप्रयोगतस्तथा । शव्दानुपाततो ज्ञेया रूपानुपाततोऽपि च ॥ ४८५ ॥ पुद्गलादिप्रयोगाद्वातिचाराः पंच दुःखदाः । श्रावकैः परिहर्तव्या ज्ञात्वेति धर्मधारकैः ॥ ४८६ ॥

मर्यादा किये हुए देशके बाहरसे किसी को बुलाना वा कोई चीज मंगाना, किसी को भेजना वा कोई पदार्थ भेजना, मर्यादा बाहर अपने शव्दके द्वारा कोई संकेत करना, अपना रूप दिखाकर कोई संकेत करना और पुद्गल वा कंकड, पत्थर फेंककर कोई संकेत करना ये पांच देशावकाशिकव्रतके अतिचार है । धर्मको धारण करनेवाले श्रावकोंको इनका स्वरूप समझकर इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ४८५ ॥ ४८६ ॥

पापाशिक्षामपध्यानं हिंसादानं च दुःश्रुतिः । प्रमादाचरणं कार्यं श्रावकैस्तु कदाऽपि न ॥ ४८७ ॥ धर्मविरुद्धं यत्कार्यं कुलजातिविनाशकं । न कार्यं तत्तु विज्ञेयं तृतीयं च गुणव्रतम् ॥ ४८८ ॥

श्रावक लोगोंको पापरूप शिक्षा वा उपदेश कभी नहीं देना चाहिये, अपध्यान अर्थात् किसीके लिये बुरा चिन्तन नहीं करना चाहिये, हिंसा करनेके साधनोंको देना नहीं चाहिये,

पाप उत्पन्न करनेवाले शास्त्रोंको सुनना नहीं चाहिये और विना प्रयोजन पृथ्वी खोदना, पानी फैलाना, अग्नि जलाना, वनस्पति तोडना आदि जीवोंको सतानेवाले कार्य नहीं करना चाहिये। इसीप्रकार जो धर्मविरुद्ध कार्य हैं अथवा कुल जातिको नष्ट करनेवाले कार्य हैं वे भी कभी नहीं करने चाहिये। इसको अनर्थदंडविरति नामका तीसरा गुणव्रत कहते हैं ॥ ४८७—४८८ ॥

निंद्यं कन्दर्पकौत्कुच्यं मौखर्यं पापवर्द्धकं। उपयोगोऽविचार्यैव भोगोपभोग-वस्तुनः ॥ ४८९ ॥ अप्रयोजनभूतस्य संग्रहकरणं तथा । ज्ञात्वा पंचाति-चाराश्च त्याज्या एवं प्रयत्नतः ॥ ४९० ॥

हंसीसे मिले हुए भड वचनोंको कदर्प कहते हैं भड वचनोंके साथ शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है ये दोनों ही क्रियाए अत्यंत निंदनीय हैं। विना प्रयोजन बहुत बोलनेको मौखर्य कहते है। मौखर्य भी पाप वढानेवाला है। इस प्रकार तीन तो ये, तथा भोगोपभोग के पदार्थोंका विना विचार किये उपयोग करना और अपने काममें न आनेवाले बहुतसे पदार्थोंका संग्रह करना ये पांच अनर्थदंडव्रत के अतिचार हैं इनको समझकर प्रयत्न पूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये ॥ ४८९ ॥ ४९० ॥

मनो वचश्च कायं च सम्यग्निरुध्य यत्नतः। प्रियाऽप्रिये पदार्थे च स्वात्मबाह्ये विनाशिनि ॥४९१॥ त्रिकाले समतां धृत्वा कर्तव्यं स्वात्मचिंतनं।

जपोऽनाहतमंत्रस्य ज्ञेयं सामायिकं व्रतम् ॥ ४९२ ॥

मन वचन कायको प्रयत्न पूर्वक अच्छीतरह रोक कर तथा आत्मासे सर्वथा भिन्न और अवश्य नाश होनेवाले ऐसे प्रिय वा अप्रिय पदार्थोंमें समता धारण कर तीनों समय अपने आत्माका चिन्तन करना चाहिये अथवा अनाहत मंत्रका (पंच नमस्कार मंत्रका) जप करना चाहिये इनको सामायिक व्रत कहते हैं ॥ ४९१ ॥ ४९२ ॥

मनोदुष्प्रणिधानं च संसारक्लेशवर्द्धकं। वचोदुष्प्रणिधानं चाशांतिदुःखप्रदायकम् ॥ ४९३ ॥ कायदुष्प्रणिधानं च विस्मरणमनादरः। एते पंचातिचाराश्च त्याज्या ज्ञात्वेति धार्मिकैः ॥ ४९४ ॥

सामायिक करते समय अपने मनको किसी बुरे चिन्तनमें लगाना संसारके क्लेशोंको बढानेवाला है, वचनको अशुभ कार्यमें लगाना अशांति और दुःख देनेवाला है, इसीप्रकार कायको अशुभक्रिया में लगाना, सामायिकका अनादर करना वा सामायिक के समय का वा किसी क्रियाका अनादर करना ये पांच सामायिकके अतिचार कहलाते हैं। धर्मात्मा भव्य पुरुषोंको इनका स्वरूप समझकर इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ४९३ ॥ ४९४ ॥

गृहस्थानामहोरात्रं धर्मध्यानं न सम्भवेत्। विचार्यैव सदाष्टम्यां चतुर्दश्यां चतुर्विधम् ॥ ४९५ ॥ त्यक्त्वाहारं कषायादिं गृहारंभादिकं तथा। उपवासः प्रकर्तव्यः। स्वात्मचिन्तनपूर्वकः ॥ ४९६ ॥

गृहस्थोंके रात दिन धर्मध्यानका होना असंभव है। यही समझकर उन को अष्टमी और चतुर्दशीके दिन चारों प्रकारके आहारका त्याग कर तथा कषाय और घर संबंधी आरंभ परिग्रह आदिका त्याग कर सदाकाल (प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी का) उपवास धारण करना चाहिये। और उस दिन अपने शुद्ध आत्माका चिन्तन करते रहना चाहिये। इसको प्रोषधोपवासव्रत कहते है॥ ४९५॥ ४९६॥

विनावलोकनेनैव विना सम्मार्जनेन च। शास्त्रोपकरणादीनां ग्रहणं स्थापनं तथा॥ ४९७॥ मलमूत्रादिकानां वा यत्र तत्र विसर्जनं। सर्वेषां संस्तरादीनां स्थापनं वा प्रमादतः॥ ४९८॥ प्रमादवर्द्धकं ज्ञेयं विस्मरणं ह्यनादरः। अतिचारा इमे त्याज्याः श्रावकैर्धर्मतत्परैः॥ ४९९॥

विना देखे और विना कोमल पीछी वस्त्र आदिसे शोधे शास्त्र वा पूजाके उपकरणोंको ग्रहण करना वा स्थापन करना, विना देखे शोधे मलमूत्र कफ आदिको चाहे जहां छोड देना, सोने बैठनेकी चटाई आदिको प्रमाद पूर्वक विना देखे शोधे रखना, प्रमादको बढानेवाला विस्मरण करना, अर्थात् उपवास वा उस दिनके कर्तव्यको भूल जाना तथा उपवास वा पर्वके दिनका अनादर करना ये पांच प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार हैं। धर्ममें तत्पर रहनेवाले श्रावकोंको इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये॥ ४९८॥ ४९९॥

कषायविषयादीनां नाशार्थं मोहवैरिणः। वस्त्रान्नपानभार्यायाः गंधमाल्या

दिवस्तुनः ॥५००॥ प्रतिदिनं प्रमाणं च कार्यं वाहनगीतयोः । स्वानन्दस्वादकैर्भव्यैः स्वरसरसिकैस्तथा ॥५०१॥

जो श्रावक अपने आत्मजन्य आनदका स्वाद लेते रहते हैं, और आत्मजन्य आनंद रस के रसिक हैं उनको अपने कषाय और विषयोंका नाश करनेके लिए तथा मोहरूपी शत्रुको नाश करनेके लिए तथा भोजन, पान, वस्त्र, स्त्री, गध, माला, सवारी, गीत नृत्य आदि भोगोपभोगके पदार्थोंका प्रतिदिन प्रमाण कर लेना चाहिए। इसको भोगोपभोग परिमाण व्रत कहते हैं ॥ ५०० ॥ ५०१ ॥

सचित्तस्तस्य सम्बंधः सम्मिश्राभिषवस्तथा । दुष्पक्काहार एवाऽपि दुःखदो व्रतनाशकः ॥५०२॥ प्रोक्ताः पंचातिचाराश्च संसारपरिवर्द्धकाः । ज्ञात्वेति वस्तुतो भव्यैस्त्यक्तव्या मोक्षहेतवे ॥५०३॥

सचित्त पदार्थोंको काममे लाना, सचित्तसे संबंध रखनेवाले पदार्थोंको काममें लाना, सचित्त मिले हुए पदार्थोंको काममें लाना, पौष्टिक आहारका सेवन करना और कच्चे अथवा आवश्यकतासे अधिक पके हुए पदार्थोंको सेवन करना ये पांच भोगोपभोग परिमाणके अतिचार है। ये अतिचार दुःख देनेवाले हैं, व्रतों को नाश करनेवाले हैं और संसारको बढानेवाले हैं। अतएव भव्य जीवोंको उचित है कि इनका वास्तविक स्वरूप समझकर मोक्ष प्राप्त करनेके लिए इनका सर्वथा त्याग कर देवें। ॥५०२॥५०३॥

आत्मरताय भव्याय गृहादिवर्जिताय च । रागद्वेषविमुक्ताय स्वपरहित-हेतवे ॥ ५०४ ॥ भक्त्या त्रिविधपात्राय दानं देयं चतुर्विधं । अतिथिसंवि-भागाख्यं व्रतं प्रोक्तं सुखप्रदम् ॥ ५०५ ॥

इस ससारमें उत्तम मध्यम जघन्य के भेदसे पात्र तीन प्रकारके हैं । ये सब पात्र अपने आत्मामें लीन रहने वाले ह, भव्य हैं, घर आरंभ परिग्रह आदिसे रहित हैं । इनको अपना और उन त्यागी व्रतियोंका कल्याण करनेके लिए भक्तिपूर्वक चारों प्रकारका दान देना चाहिए। इस को अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं । यह अतिथिसंविभाग व्रत अनेक सुखोंको देनेवाला है ॥ ४०४ ॥ ५०५ ॥

निंद्यः सचित्तनिक्षेपो वा सचित्तापिधानकं । अपरव्यपदेशश्च कालातिक्रम एव च ॥५०६॥ मात्सर्यं दुःखदात्रैतेऽतिचाराः पंचदुःखदाः । सन्तीति परिह-र्तव्या ज्ञात्वा स्वमोक्षवांछकैः ॥५०७॥

इस अतिथिसंविभाग व्रतके भी पांच अतिचार हैं पहला निंदनीय सचित्त निक्षेप अर्थात् मुनिको देने योग्य आहार को सचित्त पदार्थपर रखदेना है । दूसरा अतिचार सचित्त पदार्थसे ढक देना है, तीसरा अतिचार किसी दूसरेको आहार देनेके लिए कहना अथवा न देने की नियत से किसी अपने पदार्थ को दूसरे का बतला देना चौथा अतिचार है । आहार का समय बीत जाने पर दान देनेके लिए खडे होना है और अनेक दुःख और चिंताओंको देने वाला

पांचवा अतिचार अन्य दाताओंके साथ ईर्षा करना है। इस प्रकार दुःख देनेवाले ये पांच अतिचार हैं। स्वर्ग मोक्षकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंको इनका स्वरूप समझकर इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥ ५०६ ॥ ५०७ ॥

मांसादिदर्शनात् ज्ञेयः स्पर्शनादस्थिचर्मणः । हिंसाकरं वचः श्रुत्वा भुक्त्वा वा त्यक्तवस्तुनः ॥ ५०८ ॥ मनोग्लानिर्यदा जाता अंतरायस्तदा तदा । त्याज्यश्च सर्व आहारो व्रतपूर्णैः सुगेहिभिः ॥ ५०९ ॥

मासादिक पदार्थोंके दृष्टिगोचर होने से हड्डी, चमडा आदिके स्पर्श होनेसे हिंसा करने वाले वचनोंको सुनकरके त्यागी हुई वस्तुको खाकरके और जब मन में ग्लानि आजाय तब भोजनके अंतराय माने जाते हैं। उस समय समस्त व्रतोंसे सुशोभित रहनेवाले श्रावकोंको सब तरहके आहारका त्याग कर देना चाहिए ॥ ५०८ ॥ ५०९ ॥

भगवंस्त्वत्प्रसादेन व्रतानां लक्षणानि च । तथातिचाराः सर्वेषां ज्ञाताः स्वात्मविशुद्धये ॥ सद्यः शेषप्रतिमानां लक्षणानि निरूपय । धृत्वा ताः श्रावकः पश्चाद् मुनिर्भूत्वा शिवं व्रजेत् ॥

प्रश्नः—हे भगवन् आपके प्रसादसे अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिए समस्त व्रतोंके लक्षण और अतिचार जान लिए अब कृपाकर बाकीकी प्रतिमाओंका लक्षण कहिये। जिन्हे धारणकर यह श्रावक अंत में मुनि होकर मोक्षमें जा विराजमान होता है।

रागद्वेषं परित्यज्य समो भूत्वा प्रियाऽप्रिये । पदार्थे स्वात्मबाह्ये च दुःखदे स्वात्मनाशिनि ॥ द्वात्रिंशद्दोषमेवाऽपि त्यक्त्वा संसारदं तथा । मग्ना भवंति शुद्धेऽस्मिन् स्वात्मनि सौख्यदायिनि । तद्धा सामायिकं प्रोक्तं करणीयं त्रिकालके । तृतीया प्रतिमा ज्ञेया श्रावकस्य महात्मनः ॥५१२॥

उत्तरः—अब तीसरी प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं। जो पुरुष रागद्वेषको छोडकर तथा आत्मा से भिन्न और आत्माको नाश करनेवाले और दुःख देनेवाले प्रिय अप्रिय समस्त पदार्थोंमें समता धारण कर और जन्ममरण रूप संसारको बढानेवाले बत्तीस दोषोंका त्यागकर सुख देनेवाले अपने शुद्ध आत्मामें लीन होते हैं, उसको सामायिक कहते है। यह सामायिक महात्मा श्रावकोंको तीनों समय करना चाहिए। इसको तीसरी प्रतिमा कहते हैं ॥ ५१०—५१२ ॥

सर्वारम्भं परित्यज्याहारं चतुर्विधं तथा । कषायविषयान् त्यक्त्वा संसारदुःखदायिनः ॥५१३॥ अष्टम्यां च चतुर्दश्यां कर्तव्यो निश्चयेन च । यथाशक्त्युपवासश्च कामदो मोक्षहेतवे ॥५१४॥ चिदानन्दपदे शुद्धे स्वात्मनि सुखदे सदा । उपवेशनमेव स्यादुपवासश्च मोक्षदः ॥५१५॥

अब चौथी प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं, चौथी प्रतिमा धारण करनेवाले श्रावकको अष्टमी और चतुर्दशी के दिन सब तरहके आरंभोंका त्याग कर तथा चारों प्रकारके आहारों

का त्याग कर और संसारके महादुःख देनेवाले कषाय तथा विषयोंका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करनेके लिए अपनी शक्तिके अनुसार इच्छानुसार फल देनेवाला उपवास अवश्य करना चाहिए। अथवा शुद्ध चिदानंद स्वरूप और सुख देनेवाले अपने आत्मामें तल्लीन रहना मोक्ष देनेवाला उपवास कहलाता है। यह भी श्रावकको धारण करना चाहिए। इसको प्रोषधोपवास प्रतिमा कहते हैं ॥५१३-५१४-५१५॥

फलमूलादिकानां चापक्वानां ह्यनलादिभिः। न कार्यं भक्षणं भव्यैर्दयाधर्मप्रवर्द्धकैः ॥५१६॥ निजापरात्मशान्त्यर्थं पंचाक्षरोधहेतवे। स्वर्मोक्षवाञ्छकैर्भव्यैः स्वरसरसिकैः सदा ॥५१७॥

जो पुरुष स्वर्ग मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य हैं, दयाधर्मको बढानेवाले हैं और आत्मजन्य आनंदरसके रसिक हैं उनको पचेंद्रियोंका निरोध करनेके लिए, और अपनी आत्माको तथा अन्य समस्त जीवोंको शान्ति प्राप्त करनेके लिए अग्नि आदिके द्वारा नहीं पके हुए फल पत्र मूल आदिको कभी भक्षण नहीं करना चाहिए। इसको सचित्तत्याग नामकी पाचवी प्रतिमा कहते हैं ॥५१६-५१७॥

मनोवचनकायैश्च कृतकारितसम्मतैः। दिवसे मैथुनं त्याज्यं दुःखदं निशि भोजनम् ॥५१८॥ शान्तिवैराग्यवृध्द्यर्थं स्वात्मचिंतनमेव च। व्रतं स्वर्मोक्षदं स्याद्धि रात्रिभोजनवर्जनम् ॥५१९॥

छठी प्रतिमा धारण करनेवालोंको मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोद से दिनमें मैथुनसेवन करनेका त्याग कर देना चाहिए और महादुःख देनेवाला रात्रिभोजनका त्याग कर देना चाहिए। तथा शांति और वैराग्यको बढानेके लिए अपने आत्माका चिन्तन करना चाहिए। इसको स्वर्गमोक्ष देनेवाला रात्रिभोजन त्याग नामका व्रत कहते हैं। इसको पालन करना छटी प्रतिमा है ॥५१८–५१९॥

समस्तयोषिन्मात्रं च त्यक्त्वा वाक्कायचेतसा। तदतिचारमेवाऽपि संसारपरिवर्द्धकम् ॥५२०॥ चिदानन्दमये शुद्धे परमात्मनि सौख्यदे। स्वात्मबाह्यजनासाध्ये रत्नत्रयमये पदे ॥५२१॥ नित्यं निवेशनार्थं च स्वरसस्वादहेतवे। यतते यः स एवास्ति ब्रह्मचारी दयापरः ॥५२२॥

जो पुरुष मन वचन काय से समस्त स्त्रीमात्रका त्याग कर देता है और संसारको बढानेवाले उनके समस्त अतिचारोंको भी त्याग कर देता है तथा जो अपने आत्मजन्य आनंदरसका स्वाद लेने के लिये शुद्ध रत्नत्रय से सुशोभित, आत्मज्ञानरहित मनुष्योंके द्वारा प्राप्त होने अयोग्य, चिदानंदमय और सुख देनेवाले अत्यंत शुद्ध परमात्ममें लीन होनेका सदा प्रयत्न करता है उसको दयालु ब्रह्मचारी कहते हैं। यह ब्रह्मचर्य नामकी सातवीं प्रतिमा कहलाती है ॥५२२॥५२३॥

मस्यासिकृषिवाणिज्यं शिल्पसेवादिकं तथा। सर्वारम्भं परित्यज्य पापभीते-

दयापरः ॥५२३॥ स्वाध्यायं वा शुभध्यानं करोति स्वात्मचिंतनं । आरंभ-त्यागो विज्ञेयः पालनीयः सुगेहिभिः ॥२४॥

जो दयालु श्रावक पापोंके डरसे असि, मसि, कृपि शिल्प, सेवा, वाणिज्य आदि समस्त आरभोका त्याग कर स्वाध्याय करता है, शुभ ध्यान करता है वा अपने आत्मा का चिन्तन करता है उसके इस व्रतको आरभत्याग कहते हैं । श्रेष्ठ श्रावकोंको इसका सदा पालन करते रहना चाहिये । यह आठवीं प्रतिमाका स्वरूप है ॥ ५२३ ॥ ५२४ ॥

वस्त्रपात्रैर्विना सर्व परिग्रहं भवप्रदं । मोहादिकं तथा त्यक्त्वा वैरक्लेशादि-वर्द्धकम् ॥५२५॥ व्रतोपवासं मौनं च कुर्वन् ध्यानं तपो जपं । स्वात्मानं चिंतयन् शुद्धं स्वपदे यश्च तिष्ठति ॥२६॥ स्वर्मोक्षवाञ्छकः शुद्धः संसा-रसुखदूरगः । श्रावकः स च विज्ञेयः परिग्रहविवर्जितः ॥५२७॥

जो श्रावक वस्त्र और वर्तनों के विना जन्ममरणरूप ससारको वढानेवाले समस्त परिग्रहोका त्याग कर देता है, तथा वैर क्लेश आदि वढानेवाले मोह वा राग द्वेप आदिका त्याग कर देता है और व्रत उपवास करता हुआ मौन धारण करता हुआ ध्यान, तप वा जप करता हुआ तथा अपने शुद्ध आत्माका चिंतन करता हुआ अपने शुद्ध आत्मामे लीन रहता है । इसके सिवाय जो स्वर्गमोक्षकी इच्छा करता रहता है, सब तरहसे शुद्ध रहता है, और ससारिक सुखोंसे दूर रहता है उसको परिग्रहविरत श्रावक कहते हैं । यह नौवी प्रतिमाका स्वरूप है । ॥५२५—५२७

संसारवर्धके निंद्ये दुःखे पापप्रदेऽशुभे । विवाहारम्भकार्यादौ व्याधिचिंतादिवर्द्धके ॥५२८॥ निःसारे धर्मशून्ये वाऽनुमतिर्नास्ति यस्य च । संसारनाशकोऽयं सोऽनुमतिविरतो भवेत् ॥५२९॥

ये विवाह खेती आदि आरंभके कार्य सांसारिक है, निंद्य है, दुःख और पाप उत्पन्न करनेवाले हैं, अशुभ हैं, व्याधि चिंता आदि को बढानेवाले हैं, साररहित हैं और धर्मरहित हैं, ऐसे कार्यों में जो उत्तम श्रावक अपनी संमति तक नहीं देता उसको जन्म मरण रूप संसारको नाश करनेवाला अनुमतिविरत नामका श्रावक कहते हैं । यह दशवी प्रतिमाका स्वरूप है ॥५२८॥५२९॥

सर्वसंगं परित्यज्य मोहलोभादिकं तथा । संसारतारकं प्राप्य सद्गुरुं शांतिसौख्यदम् ॥५३०॥ तस्माद् व्रतं गृहीत्वेति खण्डवस्त्रं च धारयन् । अनुद्दिष्टं सदाहारं गृह्णन् गुरुकुले वसन् ॥५३१॥ करोति ध्यानं स्वाध्यायं सर्वथा स्वात्मसाधनं । उत्तमः श्रावकः सोऽयमुद्दिष्टाहारवार्जितः ॥५३२॥

जो पुरुष समस्त परिग्रहोंको त्याग कर तथा लोभ मोहादिका त्याग कर संसारसे पार करनेवाले और शांति सुखको देनेवाले श्रेष्ठ गुरुके समीप जाता है, तथा उन से व्रत धारण कर खंडवस्त्र धारण करता है, सदा उद्दिष्टरहित आहार लेता है, गुरुकुलमें ही निवास करता है तथा ध्यान स्वाध्याय और सब प्रकारसे अपने आत्माको शुद्ध करने का साधन किया करता

है उसको उद्दिष्टाहार त्यागी उत्तम श्रावक कहते हैं। यह ग्यारहवीं प्रतिमा का स्वरूप है ॥३०॥

इति श्री मुनिराजकुंथुसागरविरचिते बोधामृतसारग्रंथे श्रावकधर्म
वर्णनो नाम चतुर्थोऽधिकारः

इस प्रकार मुनिराज श्री कुंथुसागरविरचित बोधामृतसारनामके ग्रंथमें श्रावकधर्मको
वर्णन करनेवाला यह चौथा अधिकार समाप्त हुआ।

अथ प्रशस्तिः।

प्रसिद्धे मूलसंघेऽस्मिन् शुद्धे सेनान्वये वरे। गच्छे पुष्करके जातो जिन-
सेनो महाकविः ॥१॥ देवेंद्रकीर्तिः संजातस्तस्य शिष्यान्वये शुभे। धर्मस्य
नेता तच्छिष्यः सूरिः श्रीशांतिसागरः ॥२॥

इस प्रसिद्ध शुद्ध मूलसंघके सेनगण और पुष्कर गच्छमें प्रसिद्ध आचार्य जिनसेन महाकवि हुए हैं। उन आचार्य जिनसेन की शिष्यपरंपरामें मुनिराज देवेंद्रकीर्ति हुए हैं, और उन देवेंद्रकीर्तिके शिष्य धर्मके मुख्य नेता आचार्य शांतिसागर हुए हैं ॥१॥२॥

आसीदयं महासूरिर्भोजग्रामानिवासिनः। भीमगौडस्य सत्पत्न्यां सुपुत्रः
सातगौडकः ॥३॥ मुनिदीक्षां समादाय प्राप्तःसूरिपदं क्रमात्। मम दीक्षा-
गुरुःसोऽयं जीयादाचंद्रतारकम् ॥४॥

ये आचार्य शांतिसागर महाराज भोज (बेलगांव) गांवके रहने वाले पाटील भीमगौड के सुपुत्र थे उनका नाम सातगौड था और उनकी माताका नाम सत्यवती था। उन सात गौडने मुनिदीक्षा ग्रहण कर अनुक्रमसे आचार्य पद प्राप्त किया है। वे ही आचार्य श्री शांति-सागर मेरे दीक्षागुरु हैं और वे मेरे दीक्षागुरु आचार्य शांतिसागर इस पृथ्वीपर जबतक चन्द्र और नक्षत्रगण रहें तबतक जयवंत रहें ॥३॥४॥

मुमुक्षुस्तस्य शिष्योऽहं मुनिः श्रीकुंथुसागरः। अन्ये च बहवः शिष्याः संजातास्तस्य योगिनः ॥५॥

अर्थः—मोक्षकी इच्छा रखनेवाला मैं मुनि श्री कुंथुसागर उन्हीं आचार्य शान्तिसागरका शिष्य हूं। उन आचार्यके मेरे सिवाय और भी बहुतसे शिष्य हैं ॥ ५ ॥

श्रीवीरसागरो विद्वान् गुणज्ञो नेमिसागरः। श्रीचन्द्रसागरो योगी दयालुः पायसागरः ॥६॥ नमिसागरयोगीशो मुमुक्षुरादिसागरः। स्मार्तो वक्तातपस्वी च मुनिः सुधर्मसागरः ॥७॥

विद्वान् वीरसागर, अनेक गुणोंको जानने वाले दोनों नेमिसागर, योगिराज चन्द्रसागर, दयानिधि पायसागर योगिराज नमिसागर, मोक्षकी इच्छा रखनेवाले आदिसागर और स्मृति शास्त्रोंके ज्ञाता परम वक्ता तथा तपस्वी मुनिराज सुधर्मसागर आदि अनेक उनके शिष्य हैं ॥६-७॥

मध्यभारतदेशस्थचावलीग्रामवासिनः । तोतारामस्य मेवाया धर्मज्ञो वरनन्दनः ॥८॥ नन्दनलालश्च विद्वान् मुनिर्भूत्वा सुधर्मधीः । सुधर्मसागरो जातः सूरिकल्पः प्रपाठकः ॥९॥ सुधर्मध्यानदीपादिशास्त्राणां मूलकारकः । सुधर्मसागरः सोऽयं जीयाद्विद्यागुरुर्मम ॥१०॥

मध्यभारतके चावली गांवके रहनेवाले तोताराम के उनकी धर्मपत्नी मेवासे उत्पन्न हुआ एक धर्मात्मा सुपुत्र था नन्दनलाल उसका नाम था । वह नदनलाल विद्वान् था और सद्बुद्धि को धारण करता था । वही नन्दनलाल मुनिदीक्षा लेकर सुधर्मसागर के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । वे आचार्य के समान सबको पढानेवाले है और मेरे विद्यागुरु है । ऐसे वे सुधर्मसागर मुनि सदा जीवित हैं ॥ ८-९-१० ॥

एनापुरस्थसातप्पासरस्वत्योः सुतोत्तमः । रामचन्द्रः सुदीक्षित्वा जातोऽहं कुंथुसागरः ॥११॥

एनापुर (बेलगांव) के रहनेवाले सातप्पा और सरस्वतीका उत्तम पुत्र रामचन्द्र मुनिदीक्षा लेकर मैं कुंथुसागर मुनि हुआ हूं ॥ ११ ॥

चतुर्विंशतितीर्थेशस्तुतिः पंचगुरुस्तुतिः । चरित्रं शांतिसिंधोश्च भावना रचिता मया ॥१२॥

मैने अबतक चतुर्विंशात तीर्थंकर की स्तुति, पंचपरमेष्ठी स्तुति, आचार्य शांतिसागरजी का चरित्र और आत्मभावना आदि ग्रथोंकी रचना की है ॥ १२ ॥

उदगिरे पुरे श्रेष्ठी गंगासानामकोऽभवत् । तद्भार्या रुक्मिणी ज्ञेया रामचन्द्रः सुतस्तयोः ॥ सूरेराज्ञां समादाय मयैव कुंथुसिंधुना । दीक्षितः सोऽपि भव्यात्मा विद्वान् सुमतिसागरः ॥१४॥

उदगिरि नगरमें एक सेठ गंगासा रहते हैं उनकी स्त्रीका नाम रुक्मिणी है उन दोनोंके रामचन्द्र नामका पुत्र था मुझ कुंथुसागर मुनिने आचार्य शान्तिसागर की आज्ञा लेकर उस भव्य और विद्वान् रामचन्द्रको मुनि दीक्षा दी है और सुमतिसागर उनका नाम निर्देश किया है ॥ १३ ॥ १४ ॥

अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा स्खलनं यदि मे भवेत् । ग्रंथेऽस्मिन् तद् बुधा नित्यं श्रमणाः शोधयंत्विति ॥१५॥

मेरे अज्ञान वा प्रमाद से यदि इस ग्रंथमें कुछ कमी वा भूल रह गई हो तो विद्वान् मुनियों को उसे शुद्ध कर लेना चाहिये ॥ १५ ॥

जयतु जयतु देवः शांतिनाथो जिनेन्द्रः । सुरनरमुनिपूज्यो वर्द्धमानो जिनेशः शिववरसुखदात्री वीरवाणी सदैव । मम शुभमतिदाता शांतिसिंधुः सुधर्मः ॥१६॥

परमदेव भगवान शान्तिनाथ जिनराज सदा जयवंत रहें। देव मनुष्य और मुनियो के द्वारा पूज्य श्री वर्धमान भगवान सदा जयवत रहें। इसीप्रकार मोक्ष सुख देनेवाली भगवान महावीर स्वामी की वाणी सदा जयवत रहें और मुझको शुभबुद्धि देनेवाले आचार्य शान्तिसागर तथा सुधर्मसागर सदा जयवत रहें ॥ १६ ॥

छंदोलंकारशास्त्रं वा न च काव्यकलादिकं। नैव नीत्यादिशास्त्रं च न्यायव्याकरणादिकम् ॥१७॥ विशेषं धर्मशास्त्रं वा नैव जानामि तत्त्वतः। तथापि केवलं भक्त्या लिखितोऽय मयाधुना ॥१८॥

यद्यपि मैं छद·शास्त्र, अलकार शास्त्र वा काव्य शास्त्र और कलादिकों को नहीं जानता हू, न मैं नीतिशास्त्रको जानता हू और न न्याय व्याकरणादिक जानता हूं। तथा विशेष रीति से धर्मशास्त्रको भी अच्छी तरह नहीं जानता तथापि केवल भक्तिके वश होकर मैंने इस समय यह शास्त्र लिखा है ॥ १७ ॥ १८ ॥

दीक्षागुरोरेव च शांतिसिंधोः, संसारहर्तुः शिवसौख्यदातुः।
कृपाप्रसादाद्धि सुधर्मनाम्नो, विद्यागुरोरेव दयार्द्रमूर्तेः ॥१९॥
श्रीकुंथुनाम्ना मुनिना स्वबुध्या, स्वजन्ममृत्योश्च विनाशहेतोः।
तथा परेषां सुखशांतिहेतो–, र्यथार्थधर्मस्य च बोधहेतोः ॥२०॥

नाम्ना हि बोधामृतसार एव, ग्रंथो मनोज्ञो रचितश्च भक्त्या ।
अज्ञानहर्ता निजबोधकर्ता, भेत्ता ध्रुवं क्रोधचतुष्टयस्य ॥२१॥

जन्ममरणरूप संसारको हरण करनेवाले और मोक्ष सुखको देनेवाले आचार्य श्रीशांतिसागरजी महाराज मेरे दीक्षा गुरु हैं तथा दयाकी मूर्ति ऐसे मुनिराज सुधर्मसागर जी महाराज मेरे विद्यागुरु हैं। इन्हीं दोनों गुरुओंकी कृपाके प्रसादसे कुंथुसागर मुनिने अपने जन्म मरण का नाश करने के लिए, अन्य जीवोंको सुख शांति प्राप्त करने के लिए और यथार्थ धर्मके ज्ञानका प्रचार करनेके लिए यह बोधामृतसार नामका ग्रन्थ अपनी बुद्धिके अनुसार बनाया है यह ग्रन्थ अत्यत मनोज्ञ है, अज्ञानको हरण करनेवाला है अपने आत्मज्ञान को उत्पन्न करने वाला है और क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायोंका नाश करनेवाला है। ऐसे इस ग्रन्थकी रचना मैने भक्तिपूर्वक की है ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

ग्रंथं ह्यमुं वांछितदं सदैव, स्मरन्ति गायन्ति पठन्ति भक्त्या ।
शृण्वन्ति वाञ्छन्ति नमन्ति यान्ति, त एव भव्या भुवि सारसौख्यम् ॥२२

जो भव्य पुरुष इच्छानुसार फल देने वाले इसग्रंथको सदा स्मरण करते हैं, गाते हैं, पढते हैं, भक्तिपूर्वक सुनते हैं, पढने सुननेकी इच्छा करते हैं, नमस्कार करते हैं और इसका संबंध प्राप्त करते हैं वे भव्य जीव इस संसारमें सारभूत सुखको पाकर धन धान्यादिकसे परिपूर्ण साम्राज्य लक्ष्मीको पाकर और धर्मानुकूल कुटुंब वर्गको पाकर अनुक्रमसे शीघ्र ही सदा अजर अमर रहनेवाले अपने आत्मजन्य अनंत सुखको प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥ २२ ॥

साम्राज्यलक्ष्मीं च धनादिपूर्णां, धर्मानुकूलं च कुटुंबवर्गम् ।
लब्ध्वैव शीघ्रं ह्यजरामरत्वं, क्रमाल्लभन्त निजसौख्यसारम् ॥२३॥
सिद्धिं विशुद्धिं विमलां समाधिं, पुत्रादिपौत्रं सुखशान्तिकान्तिम् ।
शौर्यं सुविद्यां सुधृतिं हि तेजः, स्वर्मोक्षलक्ष्मीं विदधातु देवः ॥२४॥

अंतमें वे भगवान अरहन्तदेव इस ग्रथका पढने सुननेवालोंके लिये सिद्ध अवस्था प्रदान करें, विशुद्ध और निर्मल समाधि प्रदान करें, पुत्र पौत्र देवें, सुख शांति कांति शूरवीरता, श्रेष्ठविद्या, धैर्य और तेज प्रदान करे तथा स्वर्ग मोक्षकी लक्ष्मी प्रदान करें ॥ २३ ॥ २४ ॥

मोक्षं गते महावीरे सुखशान्तिप्रदायके । चतुर्विंशतिसंख्याते वा त्रिषष्ट्यधिके शते ॥२५॥ सिते कार्तिकपक्षे च द्वितीयायां शुभे दिने । ईडरराज्यान्तर्गते भिलोडातिसमीपगे ॥२६॥ स्थित्वा शुभमऊग्रामे वर्षायोगे शुभप्रदे । लिखितोऽयं मया ग्रंथो जीयादाचन्द्रतारकम् ॥२७॥

सुख और शांति देनेवाले भगवान महावीर स्वामीके मोक्ष जानेके बाद चौवीससौ तिरेसठ वर्ष वीत जानेपर कार्तिक शुक्ल पक्षके शुभ द्वितीया के दिन ईडर राज्यके अंतर्गत भिलाडा के समीप श्रेष्ठ मऊ गांवमें कल्याण करनेवाले वर्षायोगमें ठहर कर मैंने यह ग्रन्थ लिखा है । इस पृथ्वीपर जबतक चन्द्र और नक्षत्रगण विद्यमान रहें तबतक यह ग्रंथ सदा चिरंजीव बना रहे ।

लिये छह कारण बतलाये हैं। जो कि मिथ्यात्वरूपी अंधकारको दूर करनेवाले हैं, शांति आदि सुखके कारणोंको देनेवाले हैं, और आत्मसुखको प्रदान करनेवाले हैं। वे छह कारण ये हैं। सदा विवेक धारण करना अर्थात् आत्माके हित अहित का विचार होना, समता और शांति-रूपी संगतिका प्राप्त होना, संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्तबुद्धि का होना, अपने आत्माका स्वराज्य अर्थात् सिद्ध अवस्था प्राप्त करानेवाली अध्यात्मविद्याका अभ्यास करना, दान-पूजा आदि श्रेष्ठ कार्योंमे अपनी प्रवृत्ति करना और अपने शुद्ध आत्मामें निवास करना। ये छह जीवोंको सुख और शांति देनेवाले हैं। इन्हींसे संसारके समस्त दुःख छूट जाते हैं ॥११२॥११३॥

भो गुरो! निपुणः कोऽसौ कथ्यते बुधसत्तमैः? प्रश्नः—हे गुरो! श्रेष्ठ विद्वान् लोक इस संसारमें निपुण किसको कहते हैं?

क्षेमो विवेको हि कुटुंबवर्गे, पूज्येषु भक्तिः सकलेषु मैत्री।
जिनस्य सेवा करुणैव दीने, माध्यस्थवृत्तिर्निजबोधहीने ॥११॥
प्रीतिश्च धर्मिष्ठु सदैक्यभावः, सदैव षंढः परवल्लभासु।
एतैर्विचारैः सुखशान्तिदैश्च यः कोऽपि युक्तो निपुणः स एव ॥११५॥

उत्तरः—जो मनुष्य अपने कुटुंबवर्गमें क्षेम धारण करता है, तथा विवेक धारण करता है, पूज्य पुरुषोंमें भक्ति धारण करता है, समस्तजीवोंमें मैत्री धारण करता हैं, जिनदेवकी सेवा करता है, दीनोंमे करुणा धारण करता है, आत्मज्ञानमें हीन

पुरुषोंमें मध्यस्थता धारण करता है विद्वान् पुरुषोंमें प्रेम करता है, सबसे मिलकर रहता है और परस्त्रियोंके लिये नपुंसक बन जाता है। इस प्रकार सुख और शांति देनेवाले शुभविचारोंसे जो सदा शोभायमान है वही पुरुष इस संसारमें निपुण कहलाता है ॥११४॥११५॥

क्रोधिनः पुरुषो लोके कान् जीवान् हन्ति भो गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमें क्रोधी पुरुष किन जीवोंको मार डालता है ?

निजात्मशून्यो यदि कोऽपि जीवः, क्रोधेन तप्तो भुवने कदाचित् ।
पितॄंश्च मातॄनपराधशून्यान् , मित्राणि बंधूनपि धर्मयुक्तान् ॥११६॥
स्वानन्दतृप्तानपि सर्वसाधून् , विचारशून्यः खलु हन्ति सर्वान् ।
पापिष्ठराजा हि यथैव जीवान् , धिगस्तु कौ तं परमार्थशून्यम् ॥११७॥

उत्तरः—जो जीव अपने आत्मज्ञानसे रहित होता है वह यदि क्रोधसे संतप्त हो जाय तो वह बिना किसी अपराधके माताको भी मार डालता है, पिताको भी मार डालता है, मित्रोंको भी मार डालता है, धर्मात्मा भाइयोंको भी मार डालता है, अपने आत्मजन्य आनंदमें तृप्त रहनेवाले समस्त साधुओंको भी मार डालता है। जिस प्रकार पापी राजा अनेक निरपराध जीवोंको मार डालता है उसी प्रकार विचाररहित क्रोधी मनुष्य भी समस्त जीवोंको मार डालता है। अतएव इस संसारमें परमार्थरहित जीवोंको बारबार धिक्कार है ॥ ११६ ॥ ॥११७॥

तत्त्वप्रबोधशून्यास्ते जीवाः किं चिन्तयंति भो ? प्रश्नः—हे गुरो ! तत्त्वज्ञानसे रहित जीव क्या क्या चिंतन करते हैं ?

त्राताहमेवास्मि कुटुम्बकानां, रोगादिकानां प्रविनाशकर्ता ।
स्वामी जनानामहमेव नेता, पुत्रप्रपौत्रस्य विवाहकर्ता ॥११८॥
दुःखादिकानां हि भयंकराणां, सुखादिकानां च मनोहराणां ।
वस्त्रादिकानां सुमनोहरणां, धनादिकानामहमेव दाता ॥११९॥
समस्तभूमेरहमेव राजा, मया विना तेऽपि भवन्ति दीनाः ।
एवं विचारेण सदा प्रमत्तः; करोत्यकार्यं भववर्द्धकं च ॥१२०॥

उत्तरः—अपने समस्त कुटुंबको पालन करनेवाला मैं ही हूं, मैं उनके समस्त रोगोंको दूर करनेवाला हूं, मैं ही उन सबका स्वामी हूं, मैं ही नेता हूं, पुत्र, पौत्र, और प्रपौत्रोंका विवाह करनेवाला भी मैं ही हूं, भयंकरदुःखादिकोंको नष्ट करनेवाला और मनोहर सुखोंको देनेवाला भी मैं ही हूं, मैं ही मनोहर वस्त्रभूषणोंको देनेवाला हूं और मैं ही धनादिकको देनेवाला हूं, मैं इस समस्त पृथ्वीका राजा हूं । मेरे विना ये सब लोग दीन ही समझने चाहिये । इस प्रकारके निंद्य विचारोंसे प्रमादी हुए अज्ञानी मनुष्य जन्ममरणरूप संसारको बढानेवाले अकार्य ही करते हैं ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

लभन्ते सुखशान्ति किं ग्रहग्रस्ता न वेति भो. ? प्रश्नः—हे गुरो ! पागलोंके समान ग्रहग्रस्त मनुष्य क्या सुख शांति को प्राप्त कर सकते हैं या नहीं ?

कपेश्च तुल्यं हृदयं जनानां, दंशस्य तुल्योऽस्ति कुटुम्बवर्गः ।
मोहोऽस्ति पापी मदिरासमानो, मायास्ति दुष्टा बकवत्सदैव ॥१२१॥
पिशाचतुल्यानि भुवीन्द्रियाणि, वन्हेः समानः खलु नोकषायः ।
सदैव चिंता क्षयरोगतुल्या, क्रोधोऽपि नीचोऽस्ति रिपोः समानः ॥१२२॥
आशापि जन्तोः खलु लोकतुल्या, मानोऽस्ति लोके कलहस्य कोशः ।
ग्रस्ता ग्रहैर्ये भुवि ते सदैव, कदापि शान्तिं न सुखं लभन्ते ॥ १२३ ॥

उत्तर.—यह मनुष्योंका हृदय बंदरके समान चंचल है, कुटुंबके लोग सब डांसके समान चारों तरफसे भक्षण करने वाले हैं, यह पापी मोह मद्यके समान जीवोंको मोहित कर देनेवाला है, यह माया बगलाके समान सदा दुष्टता धारण करती रहती है, इस संसारमें इंद्रियां सब पिशाचके समान दुःख देनेवाली हैं, ये नोकषाय अग्निके समान सदा जलते रहते हैं, चिंता सदा क्षयरोगके समान कृश करती रहती है यह नीच क्रोध भी शत्रुके समान सदा दुःखी करता है। जीवोंकी आशा लोकाकाशके समान विशालरूप धारण कर भय दिखलाती है और यह मान भी संसारमें कलहका खजाना है। इस प्रकार जो मनुष्य इन मोह वा कषायरूपी

ग्रहोंसे ग्रसित रहते हैं उनको कभी भी सुख और शांति प्राप्त नहीं हो सकती ॥१२१॥१२२॥ ॥१२३॥

भो गुरो ! सन्ति के लोके चाण्डालसदृशा नराः ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमें चाडाल के समान मनुष्य कौन है ?

द्रोही सुधीमांश्च मुनिः प्रकोपी, श्रीमांश्च लोभी मनुजोऽपि मानी ।
तत्त्वप्रलोपी चतुरोऽपि शास्त्री, मिथ्याप्रलापी निपुणोऽपि वाग्मी ॥ १२४ ॥
न्यायी तथा कौ जिनधर्मलोपी, विश्वासहीनः सुजनोऽपि पापी ।
एते मनुष्या निजधर्मबाह्या, श्चाण्डालतुल्या भुवि निंदकाश्च ॥१२५॥

उत्तरः—जो श्रेष्ठ बुद्धिमान होकर भी विद्वानों से द्रोह वा ईर्षा करें तो वह भी चांडाल के समान है, जो मुनि होकर भी क्रोध करे तो वह चांडालके समान है, जो धनवान होकर भी लोभ करे वह भी चांडाल के समान है, जो मनुष्य होकर भी अभिमान करे वह भी चांडालके समान है, जो चतुर शास्त्री होकर भी तत्त्वोंका लोप करे वह भी चांडालके समान है, जो चतुर वक्ता होकर भी मिथ्याभाषण करता हो वह भी चांडालके समान है, जो पुरुष न्यायवान होकर भी जिनधर्मका लोप करता हो वह भी इस पृथ्वीपर चांडालके समान है, तथा जो श्रेष्ठ मनुष्य होकर भी विश्वासघात करे अथवा पापी बन जाय तो वह भी चांडालके समान समझा जाता है । ये ऊपर लिखे हुए मनुष्य अपने धर्मसे रहित है और इसी लिये

संसारमें निंदक और चांडालके समान समझे जाते हैं ॥ १२४ ॥ १२५ ॥

शरीरावयवानां भो शोभा कुत्रास्ति सद्गुरो ? प्रश्नः—हे श्रेष्ठ गुरो ! इस शरीरके अवयवोंकी शोभा किस किस कार्यमें समझी जाती है ।

गुर्वादिदेवस्य च दर्शनं स्या–, न्नेत्रस्य शोभा स्तवनं मुखस्य ।
शीर्षस्य शोभास्ति जिनप्रणामः, शास्त्रश्रुतिः स्याच्छ्रवणस्य शोभा ॥१२६॥
हस्तस्य शोभास्ति सुपात्रदानं, पादस्य शोभा जिनतीर्थयानं ।
कुक्षेश्च शोभा विधियुक्तभुक्तिः, कंठस्य शोभा जिनकीर्तिगानम् ॥१२७॥
ज्ञानस्य शोभास्ति निजात्मबुद्धिः, ज्ञात्वेति सम्यक् सकलं सुगात्रम् ।
यथोक्तकार्ये सुखशांतिमूले, भव्यैः शिवार्थं खलु योजनीयम् ॥१२८॥

उत्तर.—देव और गुरुके दर्शन करना नेत्रोंकी शोभा है, देव गुरुकी स्तुति करना मुखकी शोभा है, भगवान् जिनेंद्रदेवको प्रणाम करना मस्तककी शोभा है, भगवान् जिनेंद्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंका सुनना कानोंकी शोभा है, उत्तम पात्रोंको दान देना हाथोंकी शोभा है, जिनेंद्रदेवसे सुशोभित हुए जो तीर्थोंकी यात्रा करना पैरोंकी शोभा है, पेटकी शोभा विधिपूर्वक पवित्र भोजन करना है, कंठकी शोभा भगवान् जिनेंद्रदेवकी कीर्तिका गान करना है और ज्ञानकी शोभा अपने शुद्ध आत्मामें बुद्धिका लगना है । इस प्रकार शरीरके अवयवोंकी समस्त शोभा समझकर भव्य जीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सुख और

शांतिके कारण ऐसे ऊपर लिखे हुए कारणोंमें ही अपने समस्त शरीरके अवयवों को लगाना चाहिये ॥ १२६ ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

भो गुरो सद्गुरुः कीदृक् लोकेऽस्मिन वद साम्प्रतम् ? प्रश्नः —हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि इस संसारमें सद्गुरु कैसे होते हैं ?

सुरक्षकत्वाद्गुरुरेव माता, सुशिक्षकत्वाच्च गुरुः पितैव ।
श्रीवर्द्धकत्वाद्गुरुरेव बंधुर्गुरुः सखा कौ हितचिन्तकत्वात् ॥ १२९ ॥
सौख्यप्रदत्वाद्गुरुरेव विष्णुर्ब्रह्मा गुरुः स्वात्मपदप्रबोधात् ।
चिन्तामणिश्चिंतितवस्तुदानात्, तस्मै सदा सद्गुरवे नमोऽस्तु ॥ १३० ॥

उत्तर.—गुरु सब जीवोंकी रक्षा करते हैं इस लिये वे ही सब जीवोंकी माता है, सब जीवोंको शिक्षा देते हैं इस लिये गुरु ही पिता है, गुरु ही लक्ष्मी को बढाने वाले हैं इसलिये वे ही सब जीवोंके बंधु हैं, गुरु ही समस्त जीवोंका हित चिंतन करते रहते हैं इस लिये वे ही जीवोंके मित्र हैं, गुरु ही सब जीवों को सुख देते हैं इस लिये गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही शुद्ध आत्मका ज्ञान कराते हैं इस लिये गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही इच्छानुसार पदार्थोंको देनेवाले हैं इस लिये गुरु ही चिंतामणि रत्न हैं। अत एव ऐसे उन श्रेष्ठ गुरुओंको मैं बार बार नमस्कार करता हूं ॥ १२९ ॥ १३० ॥

हन्ति रक्षति जीवोंघं केन वा कारणेन भोः ? प्रश्नः—हे गुरो ! यह जीव किन किन

कारणोंसे अन्य जीवोंको मारता है वा उनकी रक्षा करता है ?

धनस्य मानस्य च जीवनस्य, कीर्तेश्च जिव्हारमणस्य हेतोः ।
परान् स्वयं हन्ति च हन्यतेऽपि, परेण यो रक्षति रक्ष्यते च ॥१३१॥
परान् स्वयं पुष्यति पोष्यते च, पतत्यरिं पातयति प्रयत्नात् ।
त्यक्त्वा स्वधर्मं निजबोधशून्यो, भ्रमेच्चिरं घोरभवार्णवेऽस्मिन् ॥१३२॥

उत्तरः—यह जीव धन, मान, जीवन, कीर्ति, जिव्हा, इद्रियकी लोलुपता और स्त्रीसेवनके लिये दूसरे जीवोंको मारता है वा दूसरोंके द्वारा मारा जाता है। अथवा इन्हीं कामोंके लिये दूसरों की रक्षा करता है वा स्वयं दूसरेके द्वारा सुरक्षित रहता है अथवा इन्हीं कामोंके लिये दूसरोंका पालन पोषण करता है वा स्वयं दूसराके द्वारा पालन पोषण किया जाता है। अथवा इन्हीं कामोंके लिये यह जीव स्वयं पतित होता है वा दूसरोंको प्रयत्न पूर्वक पतित कराता है। इस प्रकार जो जीव अपने आत्मज्ञानसे शून्य है वह अपने धर्मको छोडकर इस संसाररूपी समुद्रमें चिरकालतक इसी प्रकार परिभ्रमण करता रहता है ॥१३१॥१३२॥

सज्जनानां स्वभावो वा कीदृशोऽस्ति गुरो वद ? प्रश्न—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि सज्जनोंका स्वभाव कैसा होता है ?

सतां न यत्नो भवति स्वदुःखे, परस्य दुःखस्य विनाशको हि ।
संसारकार्ये बिसिनीव वृत्ति–, र्निजात्मधर्मे मुनिवरप्रवृत्तिः ॥१३३॥

तत्त्वप्रबोधः पतिवद्धि शच्याः, स्याद्वादवाणीव विचारशक्तिः ।
इत्येवं संसारविनाशकोऽसौ, सतां विचारो भवति स्वभावात् ॥१३४॥

उत्तर:—सज्जन पुरुष अपने ऊपर दुःख आनेपर भी कभी उनके दूर करने का प्रयत्न नहीं करते, तथा दूसरों के दुःखोंका वे सदा नाश करते रहते हैं। सांसारिक भोग विलासोंमें वे कमलिनीके समान सदा अलग रहते हैं तथा अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें मुनियोंके समान प्रवृत्ति करते रहते हैं। उनका तत्वज्ञान इंद्राणीके पति इन्द्रके समान सर्वोत्कृष्ट होता है और उनकी विचारशक्ति स्याद्वादवाणीके समान सदा निर्मल और यथार्थ रहती है। इस प्रकार इस पृथ्वीपर सज्जनोंके विचार स्वभावसे ही संसारको नष्ट करनेवाले होते हैं ॥१३३॥१३४॥

गुरो ! केन प्रकारेण कर्मबंधो भवेन्न च ?

प्रश्न—हे गुरो ! जीवोंको किस प्रकार कर्मोंका बंध नहीं हो सकता ?

सम्यक् सामित्या निजबोधदृष्ट्या, विलोक्य रक्षन्नसुधारिणोऽन्यान् ।
सदैव कुर्वन्निजरूपशुद्धिं, तथैव चान्यानपि कारयंश्च ॥१३५॥
भाषेत चासीत शयीत गच्छेद्, भुंजीत वर्तेत पिबेद्यथावत् ।
खादेन्निजानंदरसं च येन, स्वर्मोक्षलक्ष्मीश्च भवेत्स्वदासी ॥१३६॥

उत्तर:—जो जीव श्रेष्ठ समितियोंके द्वारा अथवा ज्ञानरूपी नेत्रोंसे अच्छीतरह देखकर अन्य समस्त जीवोंकी रक्षा करते हैं, जो अपने आत्माकी शुद्धीको सदा करते रहते है और

अन्य जीवोंसे भी कराते रहते हैं, जो शास्त्रानुकूल वचन बोलते हैं, शास्त्रानुकूल बैठते हैं, शास्त्रानुसार सोते हैं, शास्त्रानुसार चलते हैं, शास्त्रानुसार आहार लेते हैं, शास्त्रानुसार ही अपना वर्ताव करते हैं और शास्त्रानुकूल ही पानी पीते हैं और आत्मजन्य आनंदामृतरसका स्वाद लेते रहते हैं ऐसे पुरुषोंके लिये स्वर्ग और मोक्ष भी दासीके समान हो जाता है फिर भला उनके कर्मोंका बंध कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

भगवन् कोऽस्ति लोकेऽस्मिन् ब्रह्मा विष्णुर्महेश्वरः ? प्रश्न—हे भगवन् ! इस संसार में ब्रह्मा कौन है, विष्णु कौन है और महादेव कौन है ?

योऽनन्तबोधो भुवने स विष्णुः, ब्रह्मा स एवास्ति निजात्मनिष्ठः ।
यः कर्ममुक्तो जगदीश्वरः स करोति मोक्षे निजमेव राज्यम् ॥ १३७ ॥
कर्मद्विषो यः प्रविजित्य जातो, लोके महादेव इति प्रसिद्धः ।
स एव वंद्योऽस्ति नरामरेन्द्रै रन्यो न पूज्यो न च कोऽपि वंद्यः ॥ १३८ ॥

उत्तर.—इस संसारमें जो अनंतज्ञानी भगवान जिनेंद्र देव हैं वे ही विष्णु हैं तथा अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहनेवाले वे ही भगवान जिनेंद्र देव ब्रह्मा हैं। जो कर्मोंसे सर्वथा रहित हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी जगदीश्वर वा महादेव हैं जो कि मोक्षस्थानमें विराजमान होकर अपना स्वात्मजन्य स्वराज्य कर रहे हैं। इस संसारमें महादेव उन्हीं को कहते हैं जो कर्मरूपी शत्रुओंको जीतकर तीनों लोकों में प्रसिद्ध हुए हैं। अतएव वे ही ब्रह्मा, विष्णु और महादेव, इंद्र,

चक्रवर्ती आदिके द्वारा वदनीय हैं। इन अरहंत और सिद्ध परमेष्ठीके सिवाय अन्य कोई भी ब्रह्मा विष्णु वा महादेव पूज्य और वदनीय नहीं है ॥ १३७ ॥ १३८ ॥

कोऽसौ दीनोऽस्ति लोकेऽस्मिन् हे गुरो ! कथयाधुना ? प्रश्न.—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि इस ससार में दीन कौन है ?

पाखंडिलिंगे गृहिलिंगधर्मे, पापस्य बीजे विषये च पापी ।
यः स्वात्मबाह्ये परवस्तुरूपे, करोति मोहं भुवि सोऽस्ति दीनः ॥१३९॥

उत्तर—जो पापी मनुष्य पाखडको धारण करनेवाले कुगुरुओं मे, गृहस्थ अवस्थामें ही धर्मकी पूर्णता माननेवालोंमे, पापोंका कारण ऐसे विषयों में और आत्मासे सर्वथा भिन्न ऐसे परपदार्थोंमे मोह करता है ससारमें वही मनुष्य दीन कहलाता है ॥ १३९ ॥

निजात्मनो निवासश्च हे गुरो ! कास्ति भूतले ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस ससारमें इस अपने आत्माका निवास कहा पर है ?

ये केपि जीवा विषयोद्भवाद्वा, भोगोपभोगाद्वपुषो विरक्ताः ।
सन्तो हि गन्तुं स्वगृहं यतन्ते, कर्तुं स्वराज्यं स्वरसस्य पानम् ॥ १४० ॥
तेषां प्रवासो हि निजप्रदेशे, चैतन्यराज्ये च भवेन्निवासः ।
अन्ते निवासः सतत भवेद्वा, कर्मप्रणाशात्सुखपूर्णमोक्षे ॥१४१॥

उत्तरः—जो कोई जीव इस विषम संसारसे भोगोपभोगोंसे और शरीरसे विरक्त हो गये हैं तथा जो आत्मजन्य स्वराज्य करनेके लिये और आत्मजन्य आनंदामृत रसका पान करने के लिये अपने मोक्षरूप घरके लिये जानेका प्रयत्न करते हैं उन जीवोंका प्रवास तो अपने आत्मा के प्रदेशमें समझना चाहिये और उनका निवास शुद्ध चैतन्यस्वरूप राज्यमें समझना चाहिये। अथवा अंतमें समस्त कर्मोंका नाश हो जानेपर सदाके लिये उनका निवास अनन्त सुखसे परि-परिपूर्ण मोक्षस्थानमें समझना चाहिये ॥ १४० ॥ १४१ ॥

दैवस्य मुख्यता क्वास्ति किं वा पुण्येन जायते ?

प्रश्न.—हे गुरो ! दैवकी मुख्यता कहा समझनी चाहिये और पुण्यसे क्या क्या प्राप्त होता है

कृते विशिष्टेऽपि सति प्रयत्ने, कार्यस्य सिद्धिर्न भवेद्यदा हि।
दैवं प्रधानं खलु तत्र बोध्यं, बुधैश्च गौणं पुरुषार्थकार्यम् ॥१४२॥
पुण्येन वा सर्वधनं सुराज्यं, पुण्येन वा पुत्रकलत्रबंधुः।
ज्ञात्वेति कुर्वन्तु सदैव पुण्यं, कदापि धर्मान्न चलन्तु धीराः ॥१४३॥

उत्तरः—यदि विशेष और अधिक प्रयत्न करनेपर भी कार्यकी सिद्धि न हो तो वहांपर विद्वान् लोगोंको दैव ही प्रधान समझना चाहिये और पुरुषार्थको गौण समझना चाहिये। इस संसारमें पुण्यसे ही समस्त धन और श्रेष्ठ राज्यकी प्राप्ति होती है और पुण्यसे ही पुत्र, स्त्री, भाई, बंधुओंकी प्राप्ति होती है। यही समझकर विद्वानों को सदा पुण्य उपार्जन करते रहना

चाहिये और धर्मसे वीर पुरुषोंको कभी भी भ्रष्ट न होना चाहिये ॥१४२॥१४३॥

रत्नत्रयविहीनोऽयं जीवो भात्यत्र वा नवा ? प्रश्नः—जो जीव रत्नत्रयरहित है वह इस संसारमें शोभायमान होता है वा नहीं ?

जीवादितत्त्वेषु जिनागमे च, स्वात्मानुभूतौ न रुचिं करोति ।
न भाति लोके स विबोधहीनः, स्वाचारहीनो निपुणश्च कोऽपि ॥१४४॥

उत्तरः—जो कोई चतुर पुरुष भी जीवादिक तत्वोंका भगवान जिनेंद्रदेवके कहे हुए आगमका और अपने आत्माकी स्वात्मानुभूतिका श्रद्धान नहीं करता है वह आत्मज्ञानरहित और सदाचाररहित समझा जाता है तथा वह इस संसारमें कहीं भी शोभा नहीं देता ॥१४४॥

लोके धर्मानुरागस्य भो गुरो ! कीदृशं फलम् ? प्रश्नः—हे गुरो इस संसारमें धर्मसे प्रेम करनेका फल क्या है ?

धर्मानुरागोऽपि परंपरेण, शट्खण्डराज्यस्य मनोहरस्य ।
पुत्रादिपौत्रस्य समीहितस्य, शक्रादिभूतेरपि दायकः स्यात् ॥१४५॥
स्वर्मोक्षदाता भवरोगहर्ता, स एव यावन्न भवेद्धि मोक्षः ।
ज्ञात्वेति भव्यैश्च जिनानुरागो, धर्मानुरागोऽपि सदैव कार्यः ॥१४६॥

उत्तर—धर्ममें गाढ प्रेम रखना परंपरासे छहों खंडके मनोहर राज्यको देनेवाला है, पुत्र पौत्र आदि इच्छानुसार विभूतियोंको देनेवाला है। इसीप्रकार यह धर्मनुराग स्वर्गमोक्षको

देनेवाला है और जबतक मोक्षकी प्राप्ती नहीं होती तबतक संसारके समस्त रोगोंको हरण करनेवाला है। यही समझकर भव्यजीवोंको भगवान् जिनेन्द्रदेवमें सदा अनुराग रखना चाहिये और उनके कहे हुए धर्ममें सदा अनुराग रखना चाहिये ॥ १४५ ॥ १४६ ॥

आर्यमर्त्यस्य कार्याणि कानि संति जगद्गुरो ? प्रश्नः—हे जगद्गुरो इस संसार में आर्यपुरुषोंके कार्य क्या हैं ?

निजात्मशुद्धिर्गुरुदेवसेवा, सुदानपूजा जिनतीर्थयात्रा ।
ध्यानोपवासश्च तपो जपोऽपि, स्वाध्यायशान्तिः स्वपरोपकारः ॥ १४७ ॥
सम्यक्प्रवृत्तिः कुलजातिरक्षा, विचारशक्तिर्निजतत्त्वचर्चा ।
आर्यस्य कार्याणि सुखप्रदानि, प्रोक्तानि चैतानि शिवप्रदानि ॥ १४८ ॥

उत्तरः—अपने आत्माकी शुद्धि करना, देव और गुरुकी सेवा करना, पात्रदान देना, देवपूजा करना, भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तीर्थोंकी यात्रा करना, ध्यान करना, उपवास करना, तप करना, जप करना, स्वाध्याय करना, शांति धारण करना, अपने आत्माका कल्याण करना, अन्य जीवोंका कल्याण करना, अपनी प्रवृत्ति यत्नाचारपूर्वक करना, अपने कुल और जातिकी रक्षा करना, तत्त्वोंके विचार करनेकी शक्ति रखना और अपने आत्मतत्त्वकी चर्चा करते रहना, ये सब सुख देनेवाले और मोक्षप्रदान करनेवाले शुभकार्य भगवान जिनेंद्रदेवने आर्यपुरुषोंके बतलाये हैं ॥१४७॥१४८॥

भो गुरो ! कीदृशो जीवो नरकं याति सत्वरम् ? प्रश्नः—हे गुरो ! कैसा जीव शीघ्र ही नरक पहुंचता है ?

अत्यंतकोपी कटुकप्रभाषी, धर्मस्य देवस्य गुरोर्विरोधी ।
धूर्तः शठः प्राणिवधे प्रवृत्तो, द्रोही च बंधोः कुलजातिलोपी ॥१४९॥
दानादिधर्मेषु सदा रतानां, सुश्रावकाणां खलु निंदको यः ।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्तः, स एव पापी नरकस्य गामी ॥१५०॥

उत्तरः—जो अत्यंत क्रोधी है कटुक भाषण करनेवाला है, जो देव, धर्म और गुरुका विरोधी है जो धूर्त हैं, मूर्ख है प्राणियोंकी हिंसामें सदा प्रवृत्त रहता है, जो अपने भाइ बंधुओंका द्रोही है; जो कुल और जातिका लोप करनेवाला है और जो दान, पूजा आदि धर्ममें सदा लीन रहनेवाले श्रेष्ठ श्रावकोंकी सदा निंदा करता रहता है; जिस जीवके ऊपर लिखे हुए भाव विद्यमान रहते हैं; वही जीव पापी और नरकगामी समझना चाहिये ॥ ॥ १४९ ॥ १५० ॥

तिर्यग्गतिं च को जीवो गुरो ! गच्छति भो वद ? प्रश्नः— हे गुरो ! यह बतलाइये कि तिर्यंच गतिमें कौनसा जीव जाता है ?

आचारहीनो हि विचारशून्यो, मिथ्याप्रलापी च बहुप्रमादी ।

अभक्ष्यभक्षी विपरीतवृत्ति, र्बहन्नभोजी जिनधर्मबाह्यः ॥ १५१ ॥

दंभी च लोभी विषये निमग्नो, दानादिधर्माद्धि सदैव दूरः ।

पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्तः, स एव गंता च गतिं तिरश्चाम् ॥१५२॥

उत्तर—जो पुरुष आचाररहित है, विचाररहित है, सदा मिथ्या बकवाद करता रहता है, अत्यंत प्रमादी है, अभक्ष्य भक्षण करनेवाला है, अपनी प्रवृत्ति सदा धर्मसे विपरीत रखता है, जो अधिक अन्न भक्षण करनेवाला है जिनधर्म से पराङ्मुख है, मायाचारी है, लोभी है, विषयोंमें सदा लीन रहता है और दानपूजा आदि धर्मसे सदा दूर रहता है, जो जीव ऊपर कहे अनुसार अशुभ भावोंको धारण करता है उसे तिर्यंच गतिमें जानेवाला समझना चाहिये ॥ १५१ ॥ १५२ ॥

मनुष्ययोनिं को जीवो यातीति वद भो गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो ! मनुष्ययोनिमें जाकर कौनसा जीव उत्पन्न होता है ।

यः स्वल्पभोगी विमलप्रवृत्तिः, संसारभीरुश्च दयार्द्रचित्तः ।

विनीतवृत्तिः समशांतियुक्तो, धर्मप्रचारी च कुकर्मलोपी ॥ १५३ ॥

रुचिं विधत्ते गुरुदेवशास्त्रे, धर्मे सुदाने यजनेऽपि दक्षः ।

पूर्वोक्तभावैरीति यश्च युक्तः, स एव धीरो नरजन्मगामी ॥ १५४ ॥

उत्तरः—जो जीव बहुत ही कम लोभ करता है, जो अपनी प्रवृत्तिको सदा निर्मल

रखता है, जो संसारसे भयभीत है, जिसका हृदय सदा दयालु बना रहता है, जो सदा विनयपूर्वक रहता है, जो समता और शांतिको सदा धारण करता रहता है, धर्मका प्रचार करता रहता है, कुकर्मोंको नष्ट करता रहता है, देव शास्त्र गुरुमें सदा श्रद्धान धारण करता है, जो धर्म धारण करने, दान देने और पूजा करनेमें अत्यंत चतुर है। इस प्रकारके शुभ भावोंसे जो सुशोभित है वह धीरवीर मनुष्यगतिमें जाकर जन्म लेता है ॥१५३॥१५४॥

स्वर्गतिं कीदृशो जीवो याति भो सद्गुरो वद! प्रश्न —हे गुरो! अब यह बतलाइये कि स्वर्गगति में कैसा जीव जाता है?

भोगाच्छरीराच्च भवाद्विरक्तो, देशव्रती वा सकलव्रती वा।
सम्यक्त्वयुक्तश्चरमांगहीनः, स्वाध्यायलीनस्तपसा प्रयुक्तः ॥१५५॥
निजात्मशुद्धिं स्वपरोपकारं, कर्तुं सदा संयतते प्रयत्नात्।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्तः, स एव भव्यो भुवि नाकगामी ॥१५६॥

उत्तर —जो मनुष्य संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त है, जो देशव्रती है वा सकलव्रती है, जो सम्यग्दर्शनसे सुशोभित है, परंतु जो चरमशरीरी नहीं है, जो स्वाध्यायमें लीन रहता है, तपश्चरणसे सुशोभित है और जो अपने आत्माकी शुद्धि, अपने आत्माका कल्याण तथा अन्य जीवोंका कल्याण करनेके लिये प्रयत्न पूर्वक सदा उद्योग करता रहता है। इस प्रकार जो ऊपर लिखे शुभ भावोंसे सदा सुशोभित रहता है वही भव्य स्वर्ग जानेवाला समझना चाहिये ॥१५५॥१५६॥

कीदृशः पुरुषो लोके मोक्षं गच्छति भो गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो! इस संसारमें कैसा मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है ?

महाव्रतं वा समितिं दधानो, निजात्मनिष्ठश्चरमांगधारी ।
कर्तुं स्वराज्यं यतते सदैव, स्वात्मानुभूत्यां स्वपदेऽस्ति लीनः ॥१५७॥
ध्यानेन शुक्लेन च कर्महंता, द्रष्टा प्रबोद्धा च निजात्मनो यः ।
पूर्वोक्तभावैरिति यश्च युक्तः, स एव योगी भुवि मोक्षभागी ॥१५८॥

उत्तरः—जो मुनि महाव्रत वा समितिको धारण करता है जो अपने आत्मामें सदा निमग्न रहते है. चरमशरीरी हैं, जो मोक्षरूप स्वराज्य करनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं, स्वात्मानुभूति और स्वात्मपदमें सदा लीन रहते हैं, जो शुक्लध्यानके द्वारा कर्मोंको नाश करनेवाले हैं और अपने शुद्ध आत्माके ज्ञाता दृष्टा है इस प्रकार जो मुनि शुद्धभावसे सुशोभित हैं वेही मुनि इस संसारमें मोक्ष जाते हैं ॥१५७॥१५८॥

लोके सुपात्रदानेन किं जीवो लभते फलं ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमें सुपात्रदानसे जीवोंको क्या फल प्राप्त होता है ?

सुपात्रदानेन च सर्वजन्तो—, र्भवेत्सुपुत्रोऽपि पितापि माता ।
बंधुश्च भार्या भगिनी च पौत्रो, देहोऽप्यरोगी परमं बलायुः ॥१५९॥

षट्खण्डराज्यं धनरत्नपूर्णं, धर्मानुकूलो वरराज्यवर्गः ।
प्रभुत्वमाज्ञा भुवि मान्यतेति, बुद्धिः समर्था शमितुं भवाग्निम् ॥१६०॥
एतेऽपि सर्वे वरपुण्यपूरा, भवन्ति लोके समयानुसारः ।
सुपात्रदानस्य शिवप्रदस्य, सर्वोत्तमा वा महिमास्ति लोके

उत्तर —सुपात्रदान देनेसे इस संसारके समस्त जीवोंको सुपुत्र, पिता, माता, भाई, बहिन, स्त्री, पौत्र आदि पूर्ण कुटुंब प्राप्त होता है, शरीर निरोग रहता है, बल और आयु सर्वोत्तम मिलती है, धन और रत्नोंसे परिपूर्ण ऐसा छहो खंडका राज्य प्राप्त होता है श्रेष्ठ राज्य के समस्त अंग धर्मानकूल प्राप्त होते हैं। संसारमें प्रभुता, आज्ञा और मान्यता बढती है और श्रेष्ठ बुद्धि संसाररूपी अग्निको शांत करनेमें समर्थ होती है। इस प्रकार सुपात्रदान देनेसे समयके अनुसार इस संसारमें समस्त श्रेष्ठ पुण्यके समूह प्राप्त हो जाते हैं। अत एव कहना चाहिये कि मोक्ष देनेवाले इस सुपात्रदानकी महिमा इस संसारमें सर्वोत्तम मानी जाती है ॥ १५९ ॥ १६० ॥ १६१

धर्मं जहाति सद्दृष्टिर्निन्दया भो गुरो ! न वा ? प्रश्नः—हे गुरो ! सम्यग्दृष्टी पुरुष अपनी निंदा होनेपर धर्मको छोड देता है वा नहीं ?

यथैव लोके सविता खरत्वम्, शशी च शीतं कुसुमं सुगंधम् ।
इक्षुश्च दुग्धं मधुरत्वमेवं, निम्बो कटुत्वं च विषं हि सर्पः ॥१६२॥

तोयं यथाधोगमनं च पापी, वक्रां गतिं नीचजनाः कदापि ।
अग्निर्यथौष्ण्यं कलहं विभावः, चैतन्यशक्तिं सकलोऽपि जीवः ॥१६३॥
स्पर्शादिवर्णं खलु पुद्गलोऽपि, कालोऽपि नित्यं परिवर्तनत्वम् ।
धर्मोऽप्यधर्मोऽपि गतिस्थितित्व–, माकाशमेवं ह्यवकाशदानम् ॥१६४॥
साध्वी सुशीलं सुनृपः सुनीतिं, साधुः स्वधर्मं न जहाति लोके ।
तथैव धम स्तवनिन्दनेन, सद्दृष्टिर्जीवो न जहाति भावात् ॥१६५॥

उत्तर—जिस प्रकार इस ससारमें सूर्य अपनी तीव्रताको नहीं छोडता चन्द्रमा अपनी शीतताको नहीं छोडता, पुष्प सुगंधको नहीं छोडता, ईख और दूध मधुरताको नहीं छोडता, नीम कडवेको नहीं छोडता, सर्प विषको नहीं छोडता, पानी नीचगति (नीचेकी ओर जाना) को नहीं छोडता, पापी नीच मनुष्य अपनी कुटिलताको नहीं छोडता, अग्नि उष्णताको नहीं छोडती, वैभाविक परिणाम कलहको नहीं छोडता, समस्त जीव चैतन्यशक्ती को नहीं छोडते पुद्गल स्पर्श, रस, गध, वर्णको नहीं छोडता, काल अपने परिवर्तन स्वभावको नहीं छोडता, धर्मद्रव्य गतिहेतुत्वको नहीं छोडता, अधर्मद्रव्य स्थितिहेतुत्वको नहीं छोडता, आकाश अवकाशदानको नहीं छोडता, सती स्त्री अपने शीलको नहीं छोडता, उत्तम राजा अपनी श्रेष्ठ नीतिको नहीं छोडता और साधु पुरुष अपने अपने धर्मको नहीं छोडते उसी प्रकार इस संसारमें सम्यग्दृष्टि पुरुष भी स्तुति वा निंदा करनेपर भी अपने धर्मको क… …हीं छोडते हैं ॥१६२–१६५॥

कुर्वन्त्यकार्यं किं लोके स्वात्मज्ञानपराङ्मुखाः ? प्रश्नः—जो मनुष्य अपने आत्मज्ञानसे पराङ्मुख हैं वे इस संसारमें कौन कौनसे अकार्य करते हैं ?

विज्ञानशून्या नरजन्मरत्नं, लब्ध्वापि चानन्दपदप्रदं हि ।
क्लेशादियुक्ते विषये भवाब्धौ, क्षिपन्ति दीनाश्च कुटुम्बहेतोः ॥ १६६ ॥
चिन्तामणेः कल्पतरोः समानं, श्रीजैनधर्मं मनुजोऽपि लब्ध्वा ।
सुरक्षणार्थं स्मरकुंजरस्य, रत्नत्रयं सौख्यमयं त्यजन्ति ॥ १६७ ॥
सद्बुद्धिरत्नं हि धनार्जनार्थं, नियोजयन्ति व्यवहारकार्ये ।
विज्ञानहीना इह जीव लोके, किं किं न कुर्वन्ति कुकर्मकार्यम् ॥१६८॥

उत्तरः—जो मनुष्य आत्मज्ञानशून्य हैं और इसीलिये जो दीन कहलाते हैं वे मनुष्य आत्मजन्य आनंदामृतको देनेवाले मनुष्यजन्म रूपी रत्नको पाकर भी केवल अपने कुटम्बको पालन पोषण करनेके लिये अनंत क्लेशोंसे भरे हुए और अत्यंत विषम एसे संसाररूपी समुद्रमें उस मनुष्यजन्मको डुबो देते है पुरा कर देते हैं। उस मनुष्य जन्ममें भी चिंतामणि रत्न और कल्पवृक्षके समान अनंतसुख देनेवाले रत्नत्रयरूप श्रीजैनधर्मको पाकर उसे केवल कामदेव रूपी हाथीकी रक्षा करनेके लिये छोड देते हैं। इसी प्रकार श्रेष्ठ ज्ञानरूपीरत्नको पाकर उसे धन कमानेके लिये लगा देते हैं। अतएव कहना पडता है कि आत्मज्ञान-शून्य मनुष्य इस संसारमें क्या क्या अकार्य नहीं करते है अर्थात् सबतरहके अकार्य कर डालते हैं॥ १६६ ॥ १६७ ॥ १६८ ॥

मिथ्यात्वं कीदृशं लोके सम्यक्त्वं वा गुरो वद ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमें सम्यग्दर्शन कैसा है और मिथ्यात्व कैसा माना जाता है ?

सम्यक्त्वमेवास्ति शिवप्रदं हि, संसारमूलस्य विनाशकं च ।
क्रोधस्य लोभस्य सुशामकं तत् , मनोविकारस्य भवप्रदस्य ॥१६९॥
मिथ्यात्वमेवास्ति भवप्रदं हि, निरोधकं मोक्षसुखादिकस्य ।
आशापिशाचस्य विवर्धकं तत् , संसारवह्नेर्विपरीतबुद्धेः ॥१७०॥

उत्तर.—इस संसारमें सम्यग्दर्शन मोक्ष देनेवाला है, जन्ममरणरूप संसारके कारणो को नाश करनेवाला है, क्रोधको शांत करने वाला है, लोभको नष्ट करनेवाला है और संसारको बढानेवाले मनके विकारोंको नाश करनेवाला है । इसीप्रकार मिथ्यादर्शन जन्म मरण रूप संसारको बढानेवाला है, स्वर्गमोक्ष के सुखोंको रोकनेवाला है, आशारूपी महापिशाचको बढानेवाला है, संसाररूपी अग्निको बढानेवाला है और बुद्धिको विपरीत कर देनेवाला वा विपरीत बुद्धिको बढानेवाला है १६९ ॥ १७० ॥

सद्दृष्टेर्विपरीतस्य प्रवृत्तिः कीदृशी प्रभो ! प्रश्नः—हे प्रभो ! सम्यग्दृष्टी और उसके विपरीत मिथ्यादृष्टीकी प्रवृत्ति कैसी होती है ?

मिथ्यात्वमूढस्य परत्मबुद्धि, र्मिथ्याप्रपंचो विपरीतवृत्तिः ।
भवेत्सुदृष्टेश्च निजात्मबुद्धिः, सम्यक्प्रवृत्तिः स्वपदे निवासः ॥१७१॥

जानती, सिंह पशुओंके हिताहितको नहीं जानता। इसीप्रकार चोर श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुषों-के हिताहितको कभी नहीं जानते और पापी बलवान् पुरुष इस पृथ्वीपर निर्बलोंके हिताहितको नहीं जानते, अथवा धनवान पुरुष निर्धनोंके हिताहित को नहीं जानते, और कुधर्मी पुरुष धर्मानुष्ठानोंके हिताहित को कभी नहीं जानते। इसीप्रकार कृपण पुरुष अपने प्राणोंका भी हिताहित नहीं जानते और स्वार्थी पुरुष किसीके हिताहितको नहीं जानते। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुष अपने आत्माके हितको भी नहीं जानते और चारित्रमोहनीय का उदय होनेपर सम्यग्दृष्टि जीव भी अपने आत्माका हित नहीं जानते। अतएव भगवान जिनेन्द्रदेव इन जिवोंको हिताहितका ज्ञान प्रगट करानेवाली सुबुद्धि सदा देते रहें ॥ १७५—१७८ ॥

"भवत्यवर्णवादात्किं जिनादीनां गुरो वद ? प्रश्नः—हे गुरो ! जिनेंद्रदेव आदि के अवर्ण-वाद करनेसे क्या होता है सो बतलाइये ?

अवर्णवादान्नरको जिनस्य, भवेद्धि साधोरपवादयोगात् ।
धर्मस्य भूपस्य च निंदया वा, भ्रान्तिर्भवे स्यान्निजमृत्युरेव ॥१७९॥
भीमे भवाब्धौ भ्रमणं भवेद्धि, पूजा सुदानस्य च निंदया वा ।
शुद्धात्मनस्तत्त्वविचिन्तनस्य, प्रणिंदयाशांतिरगाधाचिन्ता ॥१८०॥

उत्तरः—भगवान् जिनेंद्रदेवका अवर्णवाद वा निंदा करनेसे नरककी प्राप्ति होती है, इसी प्रकार साधुकी निंदा करनेसे भी नरककी प्राप्ति होती है, धर्मकी निंदा करनेसे संसारमें

परिभ्रमण करना पडता है. राजाकी निंदा करनेसे अपनी मृत्यु होती है, भगवान् जिनेंद्रदेवकी पूजा और पात्रदानकी निंदा करनेसे अत्यंत भयानक ऐसे संसाररूपी समुद्रमें परिभ्रमण करना पडता है, शुद्ध आत्मा की निंदा करनेसे आत्मामें भारी अशांति वढ जाती है तथा तत्त्व-चिंतन वा ध्यानकी निंदा करनेसे अगाध चिंता बढ जाती है ॥१७९॥१८०॥

नरत्व प्राप्य किं लोके करणीयं जनैर्गुरो ! प्रश्न — हे गुरो ! इस संसारमें मनुष्यजन्म को पाकर लोगोंको क्या करना चाहिये ?

पुण्योदयादेव नृजन्म लब्ध्वा, भव्यैः प्रमादः स्वपदे न कार्यः ।
कुटुम्बवर्गे सकलेऽपि नष्टे, षट्खण्डराज्ये सुमनोहरेऽपि ॥१८१॥
स्वाध्यायधर्मे यजने सुदाने, ध्याने सुकार्येऽपि सदा पवित्रे ।
ज्ञात्वेति शीघ्रं निजसाधने हि, नियोजनीया स्वपदे सुबुद्धिः ॥१८२॥

उत्तरः—भव्य जीवोंको अपना समस्त कुटुंब वर्ग और मनोहर श्रेष्ठ छहो खंडका राज्य आदि सर्वस्व नष्ट होनेपर भी पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त हुए इस मनुष्यजन्मको पाकर अपना आत्मकल्याण करनेमें—शुद्धात्माकी प्राप्ति करनेमें कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। इसी वातको अच्छीतरह समझकर भव्य जीवोंको अपनी सुबुद्धि स्वाध्यायमें, धर्ममे, पूजामें, पात्रदानमें, ध्यानमें अन्य पवित्र पुण्यकार्यों मे, आत्माको शुद्ध करनेके साधनों में और शुद्ध आत्मामें सदा के लिये बहुत शीघ्र लगा देनी चाहिये ॥१८१॥१८२॥

तत्त्वविज्ञानशून्यः क्व जनो भ्रमति नृत्यति ? प्रश्न.—हे प्रभो ! तत्त्वज्ञानरहित मनुष्य कहा कहा भ्रमण करता है और कहा २ नृत्य करता है ?

अस्यास्मि कर्ता हि ममेदमेव, कार्यं च नेता जनबांधवानाम् ।
भृत्या ममैते भुवनं च राज्यं, मिथ्यात्वदोषादिति मन्यमानः ॥१८३॥
सन् स्वात्मशून्यो जिनधर्मबाह्यः, सदैष जीवो विकलो वराकः ।
भ्रमत्यचिन्त्ये विषमे भवाब्धौ, क्लेशप्रदे नृत्यति कर्मजाले ॥१८४॥

उत्तरः—मैं इस कामका करनेवाला हूं, यह काम मेरा है, मैं अपने कुटुंब परिवारका नेता हू, ये मेरे सेवक हैं और यह देश तथा राज्य मेरा है । इस प्रकार मिथ्यात्वके दोषसे माननेवाला आत्मज्ञानरहित, जिनधर्मरहित नीच और व्याकुल यह जीव जो चिंतन करनेमें भी न आवे ऐसे क्लेश देनेवाले और विषम—संसाररूपी समुद्रमें परिभ्रमण किया करता है और कर्मोंके जालमें सदा नृत्य किया करता है ॥१८३॥१८४॥

भो गुरो ! नरकाद्यायुर्बध्यते केन हेतुना ? प्रश्नः—हे गुरो ! नरकादिक आयु का बंध किन किन कारणोंसे होता है ?

श्वभ्रस्य चायुर्बहुजीवघातै, रायुस्तिरश्चां कुटिलैः कुभावैः ।
मिश्रैर्नराणां च शुभैः सुराणां, निजात्मबाह्यैः सकलैश्च जीवैः ॥१८५॥

भ्रांतिप्रदं क्लेशकरं यदायु, स्तद्बध्यते मोहविशेषतो हि ।
पूर्वोक्तभावैः खलु यश्च मुक्तः, स बध्यते नैव कदापि काले ॥१८६॥

उत्तरः—अधिक जीवोंकी हिंसा करनेसे नरक आयुका बंध होता है, कुटिल और अशुभ परिणामोंसे तिर्यंचायुका बंध होता है, शुभ अशुभ मिले हुए परिणामोंसे मनुष्यायुका बंध होता है और शुभपरिणामोंसे देवायुका बंध होता है। इस प्रकार आत्मज्ञान–रहित संसारी समस्त जीव आयुकर्म का बंध करते रहते हैं। संसारमें परिभ्रमण करानेवाले और दुःख देने वाले आयु कर्मका बंध प्राय: मोहकी विशेषतासे होता है और इसीलिये जो जीव ऊपर कहे हुए भावोंसे सर्वथा रहित है वह किसी समयमें भी कर्मोका बंध नहीं करता है॥१८५॥१८६॥

सम्यक्त्वयुक्ता जानन्ति स्वकीय-दर्शन न वा ? प्रश्न —सम्यग्दृष्टि जीव अपने सम्यग्दर्शन को जानते हैं या नहीं।

ध्रुवं स्वसम्यक्त्वरविं सुभव्या, स्वबोधनेत्रैः प्रविलोकयन्ति ।
वैराग्यसंवेगशुभस्वभावा– च्छ्रद्धादिचिह्नैश्च तथा परेषाम् ॥१८७॥

उत्तरः—भव्य जीव अपने सम्यग्दर्शन रूपी सूर्यको अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंसे देखते हैं अथवा वैराग्य, संवेग, शुभस्वभाव और श्रद्धा आदि चिन्होंसे भी जानलेते हैं। इसीप्रकार वैराग्य, संवेग, शुभस्वभाव और श्रद्धा आदि चिन्होंसे दूसरोंके सम्यग्दर्शनको भी जानलेते हैं ॥१८७॥

क. सुपुत्रः कुपुत्रो वा भो गुरो ! वद साम्प्रतम् ? प्रश्नः—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि सुपुत्र कौन है और कुपुत्र कौन है ?

पूजादिदाने स्वपरोपकारे, धर्मार्जने यस्य सदा प्रयत्नः ।
स्ववंशवृद्ध्यै यतते स्वयं यो, निजात्मसिद्ध्यै जिनधर्मवृद्ध्यै ॥ १८८ ॥
स एव लोके सुजनः सुपुत्रो, विश्वस्य हर्षाय यथैव मेघः ।
पूर्वोक्तकार्यस्य च यो विरोधी, स एव पापी कुटिलः कुपुत्रः ॥ १८९ ॥

उत्तरः—जो पुरुष देवपूजा करने और पात्रदान देनेके लिये सदा प्रयत्न करता रहाता है, तथा अपने आत्माका कल्याण और अन्य जीवोंका कल्याण करनेका प्रयत्न करता है, इसीप्रकार जो अपने वंशकी वृद्धि करनेके लिये, अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये और जिनधर्मकी वृद्धि करनेके लिये सदा प्रयत्न करता रहता हैं वही सज्जन पुरुष इस संसारमें सुपुत्र कहलाता है । जिसप्रकार मेघकी वर्षासे समस्त संसार हर्षित होता है उसीप्रकार उस सुपुत्रसे समस्त संसार हर्षित होता है । तथा जो पुरुष इन ऊपर लिखे कार्योंसे विरोध करता रहता है वह कुटिल और पापी कुपुत्र कहलाता है ॥ १८८ ॥ १८९ ॥

चतुर्गतिभयं कस्माद्विद्यते वद भो गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि चारों गतियों को किससे भय लगता है ?

अनीतियुक्तस्य भयं सुनीतेः कुज्ञानजालस्य भयं सुबोधात् ।
जीवस्य मिथ्यात्वयुतस्य भीतिः, सम्यक्त्वसूर्याच्च खलस्य साधोः १९० ॥

उद्वृत्तमार्गस्य भयं भवेद्वा, स्वाचारमार्गात्कुसृतेः सुमार्गात् ।
स्वात्मानुभूतेश्च चतुर्गतीनां, स्वस्थानवासाद्विपदस्य भीतिः ॥ १९१ ॥

उत्तरः—जो पुरुष अनीति करता रहता है उसको श्रेष्ठ नीतिसे सदा भय लगता रहता है, इसीप्रकार मिथ्या ज्ञानके समूहको सम्यग्ज्ञान से भय लगा रहता है, मिथ्यादृष्टि जीवको सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यसे भय लगा रहता है, दुष्टको सज्जनसे भय लगा रहता है मिथ्या चारित्रके मार्गको सम्यक्चारित्रके मार्गसे भय लगा रहता है। कुमार्गको सुमार्ग से भय लगता है, चारों गतियोंको स्वात्मानुभूतिसे भय लगता है और अपने आत्मस्थानमें न रहनेवाले लोगों को अपने आत्मा में निवास करनेवालोंसे सदा भय लगा रहता है ॥१९०॥१९१॥

कोऽसौ सारा धनादीनां लोके वा कथ्यते जनैः ? प्रश्नः—इस संसारमें लोग धनादिकका सार क्या समझते हैं ?

व्ययः सुपात्रे हि धनस्य सारो, बुद्धेश्च सारोऽस्ति निजात्मबोधः ।
व्रतादिकानां सुखशांतिदानां, देहस्य सारो ग्रहणं यथावत् ॥१९२॥
मुखस्य सारो जिनशास्त्रपाठः, संसारबंधत्यजनं हि लोके ।
नृजन्मसारो ह्यवगम्य चैवं, पूर्वोक्तरीतिः खलु पालनीया ॥१९३॥

उत्तरः—धनका सार वा फल सुपात्रोंमें खर्च करना है, बुद्धिका सार अपने आत्माका ज्ञान है, शरीरका सार सुख और शांति देनेवाले व्रतादिकोंका ग्रहण करना है, मुखका सार

भगवान् जिनेंद्र देवके कहे हुए शास्त्रोंका पाठ करना है और मनुष्यजन्मका सार इस संसार में संसारके बंधनोंका त्याग करना है । इस प्रकार समझकर ऊपर लिखे अनुसार रीतिका पालन करना चाहिये, अर्थात् सबका सारभाग ग्रहण करना चाहिये ॥१९२॥१९३

मूर्खोऽसाधुर्दरिद्री कः को वा दासश्च कथ्यते ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमें कौन मूर्ख है, कौन असाधु है, कौन दरिद्री है और कौन दास है ?

सुपात्रदानेन विना धनाढ्योऽ, प्यत्यन्तपापी च सदा दरिद्री ।
स्वात्मानुभूत्या स्वपदेन हीनो, यः साधुरेवापि भवेदसाधुः ॥१९४॥
मूर्खोऽस्ति विद्वानपि धर्मशून्यो, । यः स्वात्महीनो भुवि सोऽपि दासः ।
सद्ध्यानहीनो मृतवत्स जीवो, निजात्मसौख्यस्य विना हि दुःखी ॥१९५॥

उत्तरः—जो पुरुष धनाढय होकर भी सुपात्र दान नहीं देता है वह पुरुष अत्यत पापी और दरिद्री है जो साधु होकर भी अपने आत्माकी अनुभूतिसे रहित है तथा अपने आत्माकी रुचिसे रहित है उसको असाधु ही समझना चाहिये । जो विद्वान् होकर भी धर्मशून्य है उसको मूर्ख समझना चाहिये, जो पुरुष अपने आत्मगुणोंसे रहित है उसको दास समझना चाहिये । जो श्रेष्ठ ध्यानसे रहित है उसे मरेहुएके समान समझना चाहिये और जो पुरुष अपने आत्मसुखसे रहित है उसे महादुःखी समझना चाहिये ॥१९४॥१९५॥

शक्तोऽशक्तोऽस्ति को जीवस्त्रिलोके वद भो गुरो ! प्रश्न.—हे प्रभो ! अब यह बतलाइये कि इन तीनों लोको मे कौन जीव समर्थ है और कौन असमर्थ है ?

य: प्राणिनां हिंसन एव दक्ष:, पापी स शक्तोऽपि सदा ह्यशक्त: ।
कुंथ्वाद्यसूनां च नृणां पशूनां, दक्ष: सदा पालनपोषणेऽपि ॥१९६॥
स शक्तिहीनोऽपि सदा सशक्तो, य: स्यात्कुसंकल्पविकल्पमुक्त: ।
स एव शक्त: सकलेऽपि विश्वे, वंद्य: स एवास्ति नरामरेन्द्रै: ॥१९७॥

उत्तर:—जो पुरुष प्राणियोंकी हिंसा करनेमें चतुर है वह पापी समर्थ होकर भी असमर्थ कहा जाता है। तथा जो मनुष्य कुंथु आदि छोटे छोटे जीवों की और पशु वा मनुष्योंकी रक्षा करने वा उनके पालन पोषण करनेमें सदा चतुर रहता है वह विना शक्तिकेभी सशक्त गिना जाता है। अथवा जो सवतरहके संकल्प विकल्पोंसे रहित है वह मनुष्य तीनों लोकोंमें सामर्थ्यवान गिना जाता है और वही मनुष्य इन्द्र चक्रवर्ती आदिके द्वारा वदनीय गिना जाता है ॥१९६॥१९७॥

परवस्तु सदा त्यक्तं केन जीवेन भो गुरो ! प्रश्न:—हे गुरो ! इस संसारमें किस जीवने परपदार्थोंका त्याग कर दिया है ?

मुक्तोऽस्ति कोपादिचतुष्टये- र्यस्तेनैव मुक्तं परवस्तु सर्वम् ।
स एव लोके निजसाधकोऽस्ति, स्वर्मोक्षगामी सकलैश्च पूज्य: ॥१९८॥

उत्तर:—जिस मनुष्यने क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंका त्याग कर दिया है उसीने संसारके समस्त पर[illegible]र्थोंका त्याग कर दिया समझना चाहिये। तथा उसी मनुष्य

को अपने आत्माको सिद्ध करनेवाला, स्वर्गमोक्षमें जानेवाला और सब जीवोंके द्वारा पूज्य, समझना चाहिये ॥ १९८ ॥

कोऽसौ लोके ससंगोऽस्ति विसंगोऽस्ति च कः सुधीः ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमें परिग्रह सहित कौन है और परिग्रहरहित बुद्धिमान कौन है ?

यः कोऽपि मर्त्यः सुनिजात्मभावे, मौनेन युक्तः शुभध्यानलीनः ।
सम्यक्त्वयुक्तः सु कषायमुक्तो, ध्रुवं ससंगोपि विसंग एव ॥ १९९ ॥
यः कोपि संकल्पविकल्पयुक्तो, मौनेन युक्तोऽपि बहुप्रलापी ।
मिथ्याप्रपंचैः सहितश्च यः स । सदा विसंगोऽपि ससंग एव ॥२००॥

उत्तरः—जो मनुष्य अपने आत्माके शुद्ध परिणामोंमें लीन रहता है, जो मौन धारण करता है, शुभध्यानमें लीन रहता है, जो सम्यग्दर्शनसे सुशोभित है और कषायोंसे रहित है वह मनुष्य अवश्य ही परिग्रहसहित होनेपर भी परिग्रहरहित माना जाता है। तथा जो मनुष्य अनेक संकल्प विकल्प करता रहता है, मौन धारण करनेपर बहुत बोलता है और जो अनेक मिथ्याप्रपंच करता रहता है वह परिग्रहरहित होनेपर भी परिग्रहसहित ही कहा जाता है ॥ १९९ ॥ २०० ॥

किं फलं ध्यानस्वाध्यायदानभक्तिव्रतस्य च ? प्रश्नः—हे गुरो ! ध्यान, स्वाध्याय, दान, भक्ति और व्रतोंका फल क्या है ?

दत्तस्य दानस्य कृतेः कृतायाः, भक्तेः स्वसिद्धेः परिणामशुद्धे ।
व्रतोपवासस्य कृतस्य शक्त्या, ध्यानस्य योगस्य धृतस्य भक्त्या ॥२०१॥
श्रुतस्य शास्त्रस्य नतेः सुबुद्धे, स्तपोजपे मंत्रविधेः कृतस्य ।
सुपालितायाः समितेश्च गुप्तेः स्वाध्यायधर्मस्य सुसंयमस्य ॥२०२॥
मृत्योश्च काले भवदुःखदस्या, न्यवस्तुनो विस्मरणं च बंधोः ।
स्वानन्दपिण्डस्य निजात्मनो हि, चिन्मात्रमूर्तेः स्मरणं फलं हि ॥२०३॥

उत्तरः—हे वत्स ! भक्ति पूर्वक पात्रदान देनका, देवपूजा करनेका आत्माकी सिद्धि करनेका परिणामोंको शुद्ध रखनेका, शक्तिके अनुसार व्रत उपवास करनेका, भक्तिपूर्वक ध्यान धारण करने और योगधारण करनेका, शास्त्रोंके सुननेका नम्रता वा विनय धारण करनेका, श्रेष्ठ बुद्धिका, तपश्चरण करने, जप जपने और मंत्रोंकी विधियों के करनेका, समितियोंके पालन करनेका, गुप्तियोंके पालन करनेका, स्वाध्याय करनेका, धर्मधारण करनेका और संयम पालन करनेका फल, मरणके समयमें संसारके दुःखोंको देनेवाले अन्य समस्त पदार्थोंको भूल जाना, भाई बंधु आदि मोह बढानेवालोंका भूल जाना और चैतन्यस्वरूप अपने आत्मासे उत्पन्न हुए आनंदामृत पिंडका स्मरण करना समझना चाहिये ॥२०१॥ ॥२०२॥२०३॥

पूजितः पीडितः सद्भि खलै साधुः करोति किम् ? प्रश्नः—यदि कोई सज्जन साधुओंकी पूजा करता है वा कोई दुष्ट साधुओं को पीडा पहुंचाता है तो दोनों अवस्था में साधु क्या करते हैं ?

एकश्च साधोः क्षिपतीह कण्ठे, सर्पं द्वितीयश्च करोति पूजाम् ।
निंदा तृतीयोऽपि करोति पापी, स्तवं चतुर्थः प्रकटी करोति ॥२०४॥
करोति सेवां खलु पंचमोऽपि, खड्गेन षष्ठोऽथ वपुर्भिनात्ति ।
सर्वेऽप्यमी स्तावकनिंदका भोः, सुवंचकाः सन्ति यथार्थदृष्ट्या ॥२०५॥
ज्ञात्वेति धीराः रमते स्वधर्मे, स्थिरे निजानन्दपदे विशुद्धे ।
अत्यंतशुद्धे हि निजप्रदेशे, स्वर्मोक्षदास्तिष्ठति विश्ववन्द्यः ॥२०६॥

उत्तर—कोई एक पुरुष तो साधुके गलेमें सर्प डाल देता है, कोई दूसरा मनुष्य उनकी पूजा करता है, तीसरा कोई पापी आकर उनकी निंदा करता है, चौथा पुरुष आकर उनकी स्तुति करता है, पांचवा कोई पुरुष आकर उनकी सेवा करता है, अन्य छठा मनुष्य आकर अस्त्र शस्त्रोंसे उनके शरीरको छेद डालता है परंतु उन अवस्थाओंमें वे साधु यही समझते हैं कि इस पृथ्वीपर ये स्तुति वा निंदा करनेवाले सब लोग यथार्थ दृष्टिसे देखे जाय तो ठगनेवाले हैं । यही समझकर तीनों लोकोंके द्वारा वंदना करने योग्य और स्वर्ग मोक्ष देनेवाले वे धीरवीर साधु सदा स्थिर रहनेवाले अपने आत्मधर्म में क्रीडा करते हैं,

अत्यंत शुद्ध और अपने आत्मासे उत्पन्न हुए आनंदामृतपदमें क्रीडा करते हैं और अत्यंत शुद्ध ऐसे अपने आत्मप्रदेशोंमें स्थिर रहते हैं। ॥२०४॥२०५॥२०६॥

सुशीलानां सतां कीदृक् स्वभावोऽस्ति जगद्गुरो ! प्रश्नः—हे जगद्गुरो ! इस संसारमें शीलवती स्त्रियोंका तथा सज्जनोंका स्वभाव कैसा होता है ?

यथाम्रशाखी सहते शिलां च, क्षिप्तां व्यथादां हि तथापि तस्मै ।
स एव जीवाय फलं ददाति, मिष्टं सुपुष्टं हि मनोहरं च ॥२०७॥
अधौतदेहं मलिनं च वस्त्रं, नदी यथातीव शुचीकरोति ।
पूजादिदानस्य सुयोग्यमेव ददाति धेनुर्मधुरं पयो वा ॥२०८॥
नारी सुशीला सुजनो हि साधुः, सर्वं च दुःखं सहतेऽन्यदत्तम् ।
दत्तापवादं कृतरोषदोषं, कृतापमानं निजशान्तवृत्त्या ॥२०९॥
न केवलं यः सहते हि किंतु, तेषां हि चित्ते सुजनत्वबीजं ।
सुशीलबीजं सुजनः सुशीला, सद्बुद्धिबीजं वपतीति साधुः ॥२१०॥

उत्तरः—जिस प्रकार आम्रका वृक्ष नीचेसे फेंकी हुई और दुःख देनेवाली पत्थरकी चोटको सहता है तथापि वह वृक्ष उस पत्थर फेंकनेवाले पुरुषको मनोहर पौष्टिक और अच्छे मीठे फल देता है, तथा नदी भी शरीर धोनेवाले को और मलिन वस्त्रों को अत्यंत पवित्र कर

देती है, तथा गाय घास भूस खाती है और दान पूजाके योग्य दूध देती है। उसी प्रकार सुशीला स्त्री और सज्जन साधु दुसरोंके द्वारा दिये हुए सबतरहके दुःखोंको सहते हैं, जो कोई उनका अपवाद करता है, उनको दोष लगाता है, या उनपर क्रोध करता है वा उनका अपवाद करता है, उन सबको वह सुशील स्त्री और सज्जन साधु अपनी स्वाभाविक शांतवृत्तिसे सहन कर लेते हैं। वह सुशीला स्त्री और सज्जन साधु दूसरोंके दिये हुए दुःखोंको सहन करके ही नहीं रहजाते हैं किंतु उन दुःख देनेवालोंके हृदयमें सुशीलता और सज्जनताका बीज बो देते हैं तथा वही साधु उन दुष्टोंके हृदयमें श्रेष्ठ बुद्धिका बीज बो देते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा है ॥२०७॥२०८॥२०९॥२१०॥

स्वात्मा विलोक्यते चाक्षैः स्वात्मना मनसाथवा ? प्रश्नः—हे गुरो ! यह अपना आत्मा इन्द्रियोंके द्वारा देखा जाता है वा मनके द्वारा देखा जाता है अथवा अपने ही आत्माके द्वारा देखा जाता है ?

इंद्रियैर्मनसात्मानं ज्ञातुं द्रष्टुं सुखाय च। मूढा जना यतन्ते ये मुख्या मूर्खेषु ते मताः ॥२११॥ वाक्कायमानसाक्षैश्च पुद्गलानेव केवलम्। रसस्पर्शात्मकं द्रष्टुं ज्ञातुं वा शक्नुवन्ति च ॥२१२॥ चिन्मात्रमूर्तिमात्मानं नैव स्पर्शादिवर्जितम्। आत्मावलोकने ज्ञेयमात्मबोधे परोक्षतः ॥२१३॥ वाक्कायमानसाक्षाणां साहाय्यमात्रमेव च। आत्मना चात्मने चात्मात्मानमा-

त्मनि चात्मनः ॥ विलोकनं परिज्ञान भवेदेव स्वभावतः । यथा दीपस्य साहाय्याद् घटादिः प्रविलोक्यते ॥२१५॥ तथात्मनैव स्वात्मेति सिद्ध एव प्रमाणतः । मन्यते स्वात्मनिष्ठेन कुंथुसागरयोगिना ॥२१६॥

उत्तरः—मूढ बुद्धिको धारण करनेवाले जो पुरुष अपना आत्मसुख प्राप्त करनेके लिये इन्द्रिय और मनके द्वारा आत्माको देखना वा जानना चाहते हैं उन्हें मूर्खोंमें भी मुख्य समझना चाहिये। क्यों कि ये संसारी जीव मन वचन और इन्द्रियोंसे रूप रस गंध स्पर्श युक्त पुद्गलको ही देख वा जान सकते हैं, चैतन्य स्वरूप आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित है इसलिये उसको वे मन वचन काय वा इन्द्रियों से नहीं देख वा जान सकते। परोक्षरूपसे आत्माको देखने और जाननेमे मन वचन काय और इन्द्रियोंको सहायक मात्र समझना चाहिये। वास्तवमे देखा जाय तो यह आत्मा अपने आत्माके सुखके लिये अपने आत्मा को अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माके ही स्वभावसे देखता और जानता है। जिस प्रकार दीपककी सहायतासे घटादिक पदार्थ जाने जाते हैं उसी प्रकार यह आत्मा अपने ही आत्माके द्वारा जाना जाता है यह बात प्रमाणसे सिद्ध है। अपने आत्मामें लीन रहनेवाले मुनिराज कुंथुसागरजी भी इसी प्रकार मानते हैं ॥ २११—२१६

कीदृशं शस्यते ज्ञान जिनैर्वद जगद्गुरो!

प्रश्नः—हे जगद्गुरो! भगवान जिनेन्द्रदेव कैसे ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं?

मिथ्यात्वं क्षीयते येन स्वात्मतत्त्वं विबुध्यते। चित्तं निरुध्यते येन स्वतृष्णा

नाश्यते जवात् ॥२१७॥ येन शुद्धो भवेदात्मा येनाविद्या विनश्यति । येन प्रणाश्यते रागः स्वरसो येन पीयते ॥२१८॥ मैत्री प्रवर्त्यते येन द्रोहो लोभो विहन्यते । येनाशा हन्यते शीघ्रं स्वसुखं येन भुज्यते ॥२१९॥ संसारो मुच्यते येन स्थीयते स्वपदेऽचले । स्वर्मोक्षदैर्जिनैः प्रोक्तं ज्ञानं श्रेष्ठं तदेव हि ॥ २२० ॥ आहारं मैथुनं निद्रा भयं सर्वेषु विद्यते । सम्यग्ज्ञानेन मर्त्योऽयं शोभते तद्विना पशुः ॥

उत्तर.—जिस ज्ञानसे मिथ्यात्व नष्ट हो जाय, जिससे आत्मतत्वका ज्ञान हो जाय, जिससे मनकी चंचलता रुक जाय और जिस ज्ञान से शीघ्र ही इन्द्रियोंकी तृष्णा नष्ट हो जाय जिस ज्ञानसे आत्मा शुद्ध हो जाय, जिस ज्ञानसे अविद्या वा मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाय, जिससे राग नष्ट हो जाय, जिस ज्ञानसे शुद्ध आत्मजन्य आनन्दरसका पान होता रहे, जिस ज्ञानसे समस्त जीवोंमे मित्रता बढ जाय, जिससे लोभ और द्रोह नष्ट हो जाय, जिससे आशा शीघ्र नष्ट हो जाय, जिससे यह आत्मा शीघ्र ही अपने आत्मजन्य सुखको भोगता रहे, जिस ज्ञानसे यह जन्ममरण रूप संसार नष्ट हो जाय और जिस ज्ञानसे यह आत्मा अपने निश्चल शुद्ध आत्मामें लीन हो जाय, उस ज्ञानको स्वर्गमोक्ष देनेवाले भगवान जिनेन्द्रदेव श्रेष्ठ ज्ञान वा सम्यग्ज्ञान कहते हैं । आहार, निद्रा और भय ये सब जीवोंमें रहते हैं परंतु इस मनुष्यकी शोभा सम्यग्ज्ञानसे ही होती है । सम्यग्ज्ञानके विना यह मनुष्य पशुके समान समझा जाता है ॥ २१७–२२१ ॥

दानं दादाति यो नैव तस्य द्रव्यस्य का गतिः ? प्रश्नः—जो मनुष्य दान नहीं देते उसके धनकी क्या गति होती है ?

धनं लब्ध्वापि पुण्येन पित्रे मात्रे न धर्मिणे । न ददाति सुपात्राय स्वय मप्यात्ति नैव यः ॥२२१॥ कौ धनं पापिनस्तस्य शिलावत्प्रतिभाति मे । चौरो नयति राजा वा स्वयं नश्यति वा जवात् ॥२२३॥

उत्तरः—मनुष्य अपने पुण्यकर्म के उदयसे धनको पाकर भी माता पिता वा धर्मात्माके लिये नहीं देता, न सुपात्रदानमें उसे खर्च करता है और न स्वयं खाता पीता है उस पापी का धन गटे हुए पत्थरके समान समझना चाहिये । उस धनको या तो चोर चुरा ले जाते हैं अथवा राजा हरण कर लेता है, अथवा शीघ्र ही वह अपने आप नष्ट हो जाता है ॥ २२२ ॥

प्राप्य बोधिं न च घ्नन्ति कर्मारीन् कीदृशाश्च ते ? प्रश्न.—हे गुरो ! जो पुरुष रत्नत्रयको पाकर भी कर्मरूपी शत्रुओंका घात नहीं करते वे मनुष्य कैसे हैं ?

लब्ध्वापि दुर्लभां बोधिं संसारक्लेशनाशिनीम् । कर्मशत्रून् खलान् भीमान् ये जयन्ति न यत्नतः जेतुं ये प्रयतन्ते न न परान् प्रेरयन्त्यपि । इच्छानुसारदं लब्ध्वा चिंतारत्नं मनोहरम् ॥२२५॥ क्षिपन्त्येव भवाब्धौ वा कामधेनुं सुकामदाम् । त्यजन्ति गहनेऽरण्ये ये स्वकल्पानुसारदम् ॥२२६॥ कल्प

वृक्षं च लब्ध्वापि दहन्ति सहसैव ते। नृजन्मवल्लिमेवापि मन्ये छिन्दन्ति ते ध्रुवम् ॥२२७॥

उत्तरः—जो मनुष्य अत्यंत दुर्लभ और संसारके क्लेशोंको नाश करनेवाले रत्नत्रयको पाकर भी अत्यंत दुष्ट और भयंकर ऐसे कर्मरूप शत्रुओंको यत्नपूर्वक नहीं जीतते हैं अथवा उनको जीतने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करते हैं और न उनको जीतनेके लिये दूसरोंको प्रेरणा करते हैं वे मनुष्य इच्छानुसार फल देनेवाले मनोहर चिन्तामणि रत्न को पाकर भी उसे संसाररूपी समुद्रमें फेंक देते हैं। अथवा इच्छानुसार फल देनेवाली कामधेनुको गहन वनमें छोड देते हैं। अथवा कल्पनाके अनुसार फल देनेवाले कल्पवृक्षको पाकर भी बहुत शीघ्र उसे जला देते हैं। इसीप्रकार रत्नत्रयको पाकर कर्मोंको नष्ट न करनेवाले मनुष्य भी मनुष्यरूपी बेलको निश्चयसे तोड देते हैं ऐसा मैं समझता हूं ॥ २२४–२२७ ॥

सर्वशास्त्रं पठित्वापि धर्मश्रद्धां करोति न ॥ कीदृशः कथ्यते लोके भो गुरो ! वद साम्प्रतम् ? प्रश्नः—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि जो मनुष्य समस्त शास्त्रोंको पढकर भी धर्म की श्रद्धा नहीं करता है, वह मनुष्य इस संसारमें कैसा गिना जाता है ?

शब्दशास्त्रं कलाशास्त्रं धर्मशास्त्रं सुखप्रदम्। सर्वं शास्त्रं पठित्वापि प्रमाण-नयभूषितम् ॥२२८॥ न्यायाचार्योऽपि भूत्वा यः श्रेष्ठो मुनिरपि स्वयम्। सुधीमानपि वर्योऽपि पण्डितो निपुणोऽपि सन् ॥ व्यवहारमिह ज्ञात्वा नि-

श्रयं चापि वस्तुतः। षड्द्रव्याण्यपि बुध्द्वेति स्वतत्त्वमपि चिह्नतः॥ स्वात्मानुष्ठानमेवापि न करोति न चाचरेत्। श्रद्धानं जिनधर्मस्य स्वर्मोक्षदस्य भक्तितः॥२३१॥ नेत्रवानपि चान्धो हि, मूर्ख एव बुधोऽपि सः। विसंगोपि ससंगः स मन्येऽहं विधिवंचितः॥२३२॥ प्रतिभात्यात्मबाह्यो वा स दीर्घभवधारकः। करे धृत्वा यथा दीपमन्धकूपे पतेत्स्वयम्॥२३३॥

उत्तरः—जो मनुष्य व्याकरणशास्त्र, कलाशास्त्र, और सुख देनेवाले धर्मशास्त्रको पढकर भी तथा नय और प्रमाणोंसे सुशोभित ऐसे समस्त शास्त्रोंको पढकर भी तथा न्यायाचार्य होकर भी, स्वयं श्रेष्ठ मुनि होकर भी, अत्यंत बुद्धिमान होकर भी वा श्रेष्ठ और चतुर पंडित होकर भी, व्यवहार नयको जानकर भी वा यथार्थ निश्चय नयको जानकर भी अथवा छहों द्रव्योंको जानकर भी, जो अपने आत्माका अनुष्ठानका आचरण नहीं करते हैं अथवा स्वर्गमोक्ष देनेवाले जिनधर्मका भक्तिपूर्वक श्रद्धान नहीं करते हैं, वे नेत्रोंको धारण करते हुए भी अंधोंके समान हैं। विद्वान होते हुए भी मूर्ख है, परिग्रहरहित होकर भी परिग्रह सहित हैं। इसप्रकार वे अपने कर्मोंसे ठगे हुए हैं ऐसा मैं मानता हूं। वे लोग आत्मज्ञानके बाहर समझे जाते हैं अथवा दीर्घ संसारमें परिभ्रमण करनेवाले समझे जाते हैं। जिसप्रकार कोई मनुष्य हाथमें दीपक लेकर भी स्वयं अंधे कूएमें गिरता है उसी प्रकार उन लोगोंको महामूर्ख समझना चाहिये॥२२८–२३३॥

सज्जातिं च सुधर्मं वा त्यक्त्वा ये पुरुषाः स्वयम् । निजेच्छया प्रवतन्ते कीदृशा वद ते गुरो ! प्रश्नः—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि जो पुरुष अपनी सज्जाति और श्रेष्ठ धर्मको छोडकर स्वयं इच्छानुसार प्रवृत्ति करते हैं वे कैसे हैं ?

त्यक्त्वा स्वर्मोक्षदं धर्मं श्रेष्ठां जातिं कुलं तथा । जनसंख्यादिवृद्ध्यर्थं विषयार्थं च केवलम् ॥२३४॥ यस्य कस्य समं याभिः काभिः कन्याभिरेव ये । कारयन्ति विवाहं चान्यायतोऽपि धनार्जनम् ॥ लज्जामपि परित्यज्य केवलोदरपूर्तये । यत्र कुत्रापि लब्ध्वान्नं गृह्णन्ति स्वाद्वभीप्सितं ॥ ते साक्षात् पतिताः सान्ति पशवः पापिन स्तथा । दुर्गतिं प्राप्य ते जीवाः सहन्ते तीव्रदुःखतां ॥

उत्तरः—जो लोग स्वर्ग मोक्ष देनेवाले धर्मको छोडकर, तथा श्रेष्ठ जाति और कुलको छोडकर, केवल विषय सेवन करनेके लिये अथवा जनसंख्याको बढानेके लिये जिस किसी पुरुषका जिस किसी कन्याके साथ विवाह करा देते हैं तथा अन्यायसे धनोपार्जन करते हैं और लज्जाको छोडकर केवल पेट भरनेके लिये जहां कहीं स्वादिष्ट और इच्छानुसार मिले हुए अन्नको खालेते हैं, वे मनुष्य साक्षात् पतित हैं, पशु हैं और पापी हैं । ऐसे जीव दुर्गतिको पाकर महातीव्रदुःख सहन करते रहते हैं ॥२३४–२३७॥

जनवृद्धिर्गुरो ! हेया किं लोके वद साम्प्रतम् । प्रश्न—हे गुरो ! क्या इस संसारमें जनवृद्धि त्याग करने योग्य है ? कृपाकर यह बतलाइये ।

वृद्धिर्धार्मिकमर्त्यानां वांछनीया सदा भुवि । सा तु धर्मोपदेशेन बोधामृतरसेन वा ॥२३८॥ मोक्षयोग्ये कुले कार्या जनवृद्धिः सदा नरैः । धर्मवृद्धिः कदाचिन्नोत्पन्नैर्विजातिसंकरैः ॥२३९॥

उत्तरः—इस संसारमें धार्मिक पुरुषोंकी वृद्धि सदा वाञ्छनीय है परंतु वह वृद्धि मनुष्योंको मोक्ष जाने योग्य कुलमें धर्मोपदेश देकर अथवा ज्ञानामृतके रसका पान कराकर करते रहना चाहिये । जो मनुष्य विजातिसंकर उत्पन्न होते हैं उनसे धर्मवृद्धि कभी नहीं हो सकती ॥२३८॥२३९॥

अक्रमेण च सेवन्ते सन्त्यर्थान कीदृशाश्च ते ? प्रश्न —हे गुरो ! जो मनुष्य धर्म अर्थ काम आदि पुरुषार्थों को बिना क्रमके सेवन करते हैं वे मनुष्य इस ससारमें कैसे हैं ?

धर्मार्थादित्रिवर्गस्य सेवनं सत्सुखप्रदम् । प्रयत्नादविरोधेन सदेति कथितं जिनैः ॥२४०॥ ये पूर्वोक्तक्रमं त्यक्त्वा चलन्ति स्वेच्छया सदा । गृहस्था नहि योग्यास्तेऽभिभूयन्ते च भूतले ॥ केवलं धर्म एवास्ति मुख्यो मत्वेति मानवाः । सेवन्ते परमं धर्म त्यक्त्वा कामं धनं तथा ॥२४२॥ दीक्षामादाय ते भव्याः कुर्वन्ति परमं तपः साधयन्ति च मोक्षं वा परमार्थं नरोत्तमाः ॥२४३॥ धनार्जनं प्रकुर्वन्ति त्यक्त्वा धर्मं च पापिनः । मूलमुत्पाद्य

ते मूढा इच्छान्ति फलमीप्सितम् ॥ धर्मं धनं परित्यज्य केवलं कामसेविनः । नश्यन्ति भूतले शीघ्रं हा सत्यंधर भूपवत् ॥२४५॥ तस्माद्धर्माविरोधेनोपार्जयन्तु धनं सदा । धनं धर्माविरोधेन सेवन्तां काममंगिनः ॥२४६॥ पालनीयश्चतुर्वर्गः श्रावकैरविरोधतः । यथा श्रावकवर्येण दयाधर्मादिमूर्तिना ॥ श्रीसत्यंधरपुत्रेण जीवकेन सुधीमता । सुन्यायनिपुणेनेव नृसिंहेन नृपेन्दुना ॥२४८॥

उत्तरः—धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारो पुरुषार्थ सुख देनेवाले हैं । इनको प्रयत्न पूर्वक और विरोध रहित सेवन करना चाहिये ऐसा भगवान जिनेंद्र देवने कहा है। जो लोग पूर्वोक्त क्रमको छोडकर इच्छानुसार इनका सेवन करते हैं वे योग्य गृहस्थ नहीं कहलाते तथा वे संसारमें तिरस्कृत होते हैं । जो मनुष्य केवल धर्म पुरुषार्थको ही मुख्य मानते हैं और अर्थ वा काम पुरुषार्थको छोडकर सर्वोत्कृष्ट धर्मका ही सेवन करते हैं वे उत्तम भव्य मनुष्य दीक्षा लेकर परम तपश्चरण करते हैं और परम पुरुषार्थरूप मोक्षको सिद्ध करलेते हैं। तथा जो पापी मनुष्य धर्मको छोडकर केवल धनोपार्जन करते हैं वे मूल वा जडको उखाडकर इच्छानुसार मीठे फल खाना चाहते हैं । इसीप्रकार जो पुरुष धर्म और धन दोनोंको छोडकर केवल काम सेवन करते हैं वे इस संसारमें राजा सत्यंधरके समान शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं । इस लिये जिस प्रकार धर्ममें विरोध न आवे उसप्रकार धनको उपार्जन करना चाहिये । धन और धर्म दोनोंमें विरोध

न आवे उसप्रकार कामका सेवन करना चाहिये। श्रावकोंको जिसप्रकार परस्पर विरोध न आवे उसप्रकार इन पुरुषार्थोंका सेवन करना चाहिये। जो राजा जीवंधर उत्तम श्रावक था, दयाधर्म की मूर्ति था, बुद्धिमान था, मनुष्योंमें श्रेष्ठ था राजाओंमे चन्द्रमाके समान था, श्रेष्ठ न्यायमे निपुण था और राजा सत्यंधरका पुत्र था, उसने जिसप्रकार इन पुरुषार्थोंका सेवन कर अंतमें मोक्षपुरुषार्थ सिद्ध करलिया था उसप्रिकार सबको सेवन करना चाहिये ॥ २४०–२४८ ॥

कार्यं स्वास्पदयोग्यं वा ये कुर्वंति न कीदृशाः ? प्रश्नः—जो पुरुष अपने पदके योग्य कार्य को नहीं करते है वे कैसे हैं ?

स्वपदव्यनुसारेण जिनाज्ञाप्रतिपालकाः कुर्युः क्षमादिधर्मं हि दानं पूजां तपो जपम् ॥ त्यागं ध्यानोपवासं च वेषाद्याभूषणं पुनः। अवश्यं पालयेयुश्चाहिंसादिव्रतमुत्तमम् ॥२५०॥ स्वैरवृत्तिविनाशार्थं पूर्वाचार्या दयालवः। सर्वेषां हितहेतोश्च कथयन्ति मनीषिणः ॥२५१॥ मिथ्याज्ञानग्रहैर्ग्रस्ता आचार्योक्तवचोऽपि ये। न शृण्वन्ति न जानन्ति श्रुत्वापि पालयन्ति न ॥ गृहस्थकर्मणा ग्रस्ता जिनधर्मबहिःस्थिताः। ये चतुर्विधसंघानां भक्त्यार्हद्धर्मधारिणां देवशास्त्रगुरूणां न कुर्वंति भक्तिवन्दनां गृहस्थोचितकार्यं न कुर्वन्ति शांतिदायकम् ॥ विद्याधनादिहीनानां दुःखदूरसधर्मिणाम् न कुर्व-

न्ति च विद्वांसो जिनधर्मप्रभावनाम् ॥ स्थापनं पाठशालानां वाऽविद्यानाशहेतवे । गृहस्थमुख्यकार्यं वा कुर्वन्ति न धनार्जनम् ॥ प्रतिमाधारिणः केचित् केचिन्मूर्खा ह्युदासिनः । स्वपदव्याश्च्युताश्चैते स्वेच्छयाऽज्ञानतः स्वयम् ॥ मुनिक्रियां प्रकुर्वन्ति ब्रुवंतीति पुनश्च ये । मुनिभ्योऽपि वयं श्रेष्ठा वयं सद्दृष्टयो ध्रुवम् ॥ मन्यमानाः सदेत्येवं पापिष्ठाः क्लेशवर्धकाः । देवशास्त्रगुरूणां ये जिनेशवृषधारिणाम् ॥२५९॥ वा चतुर्विधसंघानां चैत्यालयादिकस्य ये तिरस्कारादिनिंदां वा श्रुत्वा दृष्ट्वापि चार्थतः ॥ धारयंति क्षमां मौनं वा भवंति ह्युदासिनः । जिनेन्द्रधर्मबाह्या हि ग्रस्ता मिथ्यात्वकर्मणा ॥ कौ गर्वेणोष्ट्रवच्चास्यं तिष्ठंत्युध्दृत्य पापिनः । मुनयोऽपि भवन्तो ये स्वाध्यायं स्वात्मचिंतनम् ॥ स्वरसस्य सदा पानमकृत्वा क्लेशनाशकम् । गृहस्थोचितकार्यं ये कुर्वंति दुःखवर्द्धकम् ॥ वैरादिवर्द्धकं कार्यं सदा कुर्वंति पापिनः । तेऽपि निजात्मबाह्या हि ग्रस्ता मिथ्यात्वकर्मणा ॥ सर्वेषां हितहेतोश्चानवस्थानाशहेतवे । प्रोक्तं त्वा शिष्यपुष्ट्यर्थं कुंथुनाम्ना सतेति हि ॥२६५॥

उत्तर:—जो मनुष्य भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं। अपने अपने

पदके अनुसार दान पूजा जप तप और उत्तम,क्षमादिक धर्मोंका पालन करते हैं । इसीप्रकार वे मनुष्य पापोंका त्याग करते हैं ध्यान उपवास करते हैं, वेष और आभूषण भी अपने पदके अनुसार पहनते हैं और अहिंसा आदि उत्तम व्रतोंको भी अवश्य पालन करते हैं इसप्रकार अत्यंत दयालु बुद्धिमान पूर्वाचार्य समस्त जीवोंका हित करनेके लिये और इच्छानुसार प्रवृत्तिका नाश करनेके लिये निरूपण करते हैं । तथापि मिथ्याज्ञानरूपी ग्रहसे घिरे हुए कितने ही ऐसे पुरुष हैं जो ऊपर लिखे हुए आचार्योंके वचनोंको न सुनते हैं न जानते हैं तथा सुनकर भी उनका पालन नहीं करते । जिनधर्मवहिर्भूत और गृहस्थधर्ममें लीन रहनेवाले कितने ही मनुष्य ऐसे हैं जो भक्तिपूर्व भगवान अरहंतदेवके कहे हुए धर्मको धारण करनेवाले चारों प्रकारके संघकी और देव शास्त्र गुरुओंकी भक्ति तथा वंदना नहीं करते हैं, न शांति देनेवाले गृहस्थोंके योग्य कार्योंको करते हैं । जो साधर्मी पुरुष विद्या वा धन आदिसे रहित हैं उनके दुःखोंको भी दूर नहीं करते, विद्वान् होकर भी जिनधर्मकी प्रभावना नहीं करते, अविद्या को नष्ट करनेके लिये पाठशालाओंकी स्थापना भी नहीं करते और जो धन कमाना गृहस्थों का मुख्य कार्य है उसको भी नहीं करते । इनमेंसे कितने ही प्रतिमाधारी वनते हैं और कितने ही मूर्ख उदासीन बनते हैं परंतु अपने अज्ञानसे तथा इच्छानुसार प्रवृत्ति करनेसे वे सब स्वयंअपने अपने पदसे भ्रष्ट हो जाते हैं। उनमेंसे कितने ही तो ऐसे हैं जो मुनियोंकी क्रियाएं पालन करते हैं और कहते यह हैं कि हम लोग मुनियोंसे भी श्रेष्ठ हैं, हम अवश्य ही सम्यग्दृष्टि हैं" वे पापी सदा इसी प्रकार मानते रहते और अपने आत्माको दु:खी किया करते हैं। यदि कोई पुरुष देव शास्त्र गुरुका तिरस्कार वा उनकी निंदा करता है, अथवा जिनधर्म धारण करनेवाले चारों प्रकारके

संघकी निंदा वा उनका तिरस्कार करता है अथवा कोई मनुष्य चैत्य चैत्यालय आदिकी निंदा वा तिरस्कार करता है उसे सुनकर वा यथार्थ रूपसे देखकर भी ये उदासीन रहते हुए प्रतिमाधारी मनुष्य क्षमा वा मौन धारण कर लेते हैं उदासीन होकर उसकी प्रतिक्रियासे उदास हो जाते हैं ऐसे लोगोंको जिनधर्मसे बाह्य और मिथ्यात्व कर्मसे घिरे हुए समझना चाहिये। ऐसे लोग इस पृथ्वीपर अभिमान में डूबकर ऊंटके समान ऊपरको मुह उठाकर रहते हैं और प्राय. पापी होते हैं। अथवा ऐसे लोग मुनि होकर भी न स्वाध्याय करते हैं न अपने आत्माका चिंतन करते हैं और न समस्त क्लेशोंको दूर करनेवाले अपने आत्मजन्य आनंदामृत-रसका पान करते हैं। किंतु मुनि होकर भी दुःख बढाने वाले गृहस्थों के योग्य कार्य किया करते हैं। इसी प्रकार वे पापी लोग वैर विरोध बढानेवाले कार्य किया करते हैं। उन्हें भी अपने आत्मजन्य ज्ञानसे बाहर और मिथ्यात्व कर्मसे घिरे हुए समझना चाहिये। समस्त जीवोंका हित करनेके लिये और इस प्रकारकी अनवस्थाका नाश करनेके लिये तथा शिष्ट पुरुषोंकी पुष्टि करनेके लिये अत्यंत सज्जन मुनिराज कुंथुसागर ने यह सब वर्णन किया है। ॥२४९—२६५॥

इति श्री मुनिराजकुंथुसागरविरचितबोधामृतसारग्रंथे
स्फुटप्रश्नोत्तरवर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः।

इस प्रकार मुनिराज श्री कुंथुसागरविरचित बोधामृतसारनामके ग्रंथमें स्फुट प्रश्नोत्तरोंको
वर्णन करनेवाला यह पहला अध्याय समाप्त हुआ।

अथ द्वितीयोऽधिकारः

भावनीयोपवासेह्वि भावना का गुरो ! वद ? प्रश्न:—हे गुरो उपवासके दिन कौनसी भावनाका चिंतन करना चाहिये ?

यदोपवासा विमला भवेयु, स्तदा तदा षोडश भावनास्ताः ।
स्वर्मोक्षदात्र्यो भवरोगहर्त्र्यः, स्वराज्यहेतोर्हृदि भावनीया ॥२६६॥

उत्तरः—जिस दिन निर्मल उपवास किया हो उस दिन भव्य जीवोंको अपना मोक्षरूप स्वराज्य प्राप्त करनेके लिये स्वर्गमोक्षको देनेवालीं और संसाररूपी रोगको हरण करनेवालीं सोलह कारण भावनाओंका चिंतन करना चाहिये ॥२६६॥

समस्तदोषाद्रहिता विशुद्धिः श्रद्धानरूपस्य सुदर्शनस्य ।
स्वस्वादतः स्वात्मविलोकनाद्वा, निजात्मबोधाच्च जिनानुरागात् ॥२६७॥
स्वराज्यदात्री परराज्यहर्त्री, षट्खंडराज्यस्य सुदायिकापि ।
श्रेष्ठा भवेद्दर्शनशुद्धिरेवं, स्वराज्यहेतोर्हृदि भावनीया ॥२६८॥

समस्त तत्त्वोंका वा अपने शुद्ध आत्माका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है उसकी विशुद्धि समस्त दोषोंसे रहित होनेपर होती है । तथा अपने आत्माकी रुचि होने,

आत्माका दर्शन होने, तथा अपने शुद्ध आत्माका ज्ञान होने और भगवान जिनेंद्रदेवमें अनुराग होनेसे वह सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि प्रगट होती रहती है। यह सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि आत्मजन्य स्वराज्य को देनेवाली है, पुद्गलादिक के परराज्यको हरण करनेवाली है, छहो खंडका अखंड राज्य देनेवाली है और सर्वश्रेष्ठ है ऐसी यह सम्यग्दर्शनकी शुद्धि अपना आत्मजन्य स्वराज्य प्राप्त करनेके लिये भव्य जीवोंको अपने हृदयमें सदा चिंतन करते रहना चाहिये ॥ २६७ ॥ २६८ ॥

दृग्बोधचारित्रतपोविधीनां, स्वर्मोक्षदानां शिवसाधकानाम्।
तद्धारकाणामिति वा जनानां, स्वात्माश्रितानां स्वरसाश्रितानाम् ॥२६९॥
सदा प्रशंसा क्रियते हि यत्र, सैवास्ति पूता विनयस्य सम्पत्।
संसारहर्त्री शिवसौख्यदात्री, भव्यैः सदा सा परिपालनीया ॥२७०॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपश्चरण स्वर्गमोक्ष देनेवाले हैं तथा मोक्षके साधक हैं, और इन चारोंको धारण करनेवाले मनुष्य अपने आत्माके आश्रित है तथा आत्मजन्य आनंदरसके आश्रित है। इन सबकी सदा प्रशंसा करते रहना, इनके प्रति नम्रता धारण करना, पवित्र विनयरूपी सपत्ति कहलाती है। यह विनय ससारको हरण करनेवाली है और मोक्षसुखको देनेवाली है अतएव भव्य जीवोंको इस विनयका पालन सदा करते रहना चाहिये ॥२६९॥२७०॥

मनोवचःकायकृतादिभेदै स्त्यक्त्वा जवात्कोपचतुष्टयादिं ।
तथातिचारं व्रतनाशकं च, त्यक्त्वा भयादिं ममकारबुद्धिम् ॥२७१॥
व्रतेष्वहिंसादिषु कामदेषु, शीलेषु तत्प्रापकवर्द्धकेषु ।
प्रवर्तते यत्र निजाश्रयेण, शुद्धिर्व्रतादेः सुखदास्ति सैव ॥२७२॥

मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायोंका त्याग कर, व्रतोंको नाश करनेवाले अतिचारोंका त्याग कर, सबतरहके भयोंका त्याग कर और ममत्व बुद्धिका त्याग कर केवल अपने आत्माके आश्रित होकर इच्छानुसार फल देनेवाले अहिंसादिक व्रतोंमें तथा अहिंसादिक व्रतोंको प्राप्त कराने वाले और बढानेवाले शीलोंमे अपनी प्रवृत्ति करना सुख देनेवाली व्रतोंकी शुद्धि कहलाती है। इसीको शील और व्रतों को अतिचाररहित पालन करना कहते हैं ॥ २७१ ॥ २७२ ॥

त्यक्त्वा प्रमादं विषयस्य चिन्तां, पंचास्तिकायस्य यथास्थितस्य ।
वा सप्ततत्त्वस्य निजात्मनोऽपि, षड्द्रव्यलोकस्य यथार्थधर्मः ॥२७३॥
विबुध्यते यत्र यथार्थचिह्नै, र्वा पीयते स्वात्मरसः सदैव ।
ज्ञानोपयोगः सुखदोऽप्यभीक्ष्णं, सदा सुभव्यैर्हृदि धारणीयः ॥२७४॥

प्रमाद और विषयोंकी चिन्ताओंको छोडकर यथार्थ स्वरूपको धारण करनेवाले पांचों

अस्तिकायोंके यथार्थ धर्मको वा स्वरूपको समझना, अथवा सातों तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूप को समझना, वा अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझना अथवा छहों द्रव्यसे भरे हुए लोकके यथार्थ स्वरूपको समझना, इन सबका स्वरूप उनके यथार्थ लक्षणोंसे समझना, अथवा अपने आत्मजन्य आनंदामृत रसका सदा पान करते रहना, सुख देनेवाला अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग कहलाता है। अभीक्ष्ण शब्दका अर्थ सदाकाल है। अपना उपयोग सदाकाल ज्ञानमें लगाये रखना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। ऐसा यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भव्य जीवोंका अपने हृदयमें धारण करते रहना चाहिये ॥ २७३ ॥ २७४ ॥

बाह्यात्पदार्थात्क्षणिकात्सुखाद्वा, भोगोपभोगाद्विषयाद्धि राज्यात् ।
समस्तबंधोरपि सन् विरक्तः, स्वात्मानुभूत्यामचले स्वराज्ये ॥२७५॥
स्थातुं प्रयत्नः क्रियते च यत्र, वा भुज्यते स्वात्मसुखं सदैव ।
संवेगभावः सुखदः स एव, भव्यैस्त्रिकाले हृदि भावनीयः ॥२७६॥

क्षण क्षणमें नाश होनेवाले बाह्य पदार्थोंसे, इन्द्रिय जन्य सुखसे भोगोपभोगोंसे, विषयोंसे, राज्यसे और समस्त बंधुओंसे विरक्त होकर अपनी आत्मानुभूतिमें स्थिर रहनेका प्रयत्न करना, वा आत्मजन्य निश्चल स्वराज्य में स्थिर रहनेका प्रयत्न करना अथवा सदाकाल आत्मजन्य सुखका अनुभव करना सुख देनेवाला संवेगभाव कहलाता है। यह संवेगभाव भव्य जीवोंको अपने हृदय में तीनों काल धारण करना चाहिये ॥२७५॥२७६॥

मिथ्यात्वमोहादिविवर्जिताय, दृग्बोधचारित्रसमन्विताय ।
स्वानन्दजुष्टाय दयाश्रिताय, भव्याय संघाय चतुर्विधाय ॥२७७॥
चतुर्विधं यत्र च दीयते हि, भक्त्या सुदानं परमार्थबुध्द्या ।
स्वर्मोक्षदो दानविधिः स एव, भव्यैः स्वशक्त्या हृदि धारणीयः ॥२७८॥

जो भव्य मुनि वा चारों प्रकारका संघ मिथ्यात्व मोह आदिसे रहित है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रसे सुशोभित है, अपने आत्मजन्य आनंदमें लीन है और अत्यत दयालु है ऐसे मुनि वा चारों प्रकारके संघ को परमार्थबुद्धिसे भक्तिपूर्वक चारों प्रकारका दान देना स्वर्ग मोक्ष देनेवाली दानकी विधि कहलाती है भव्य जीवोंको यह दानकी विधि अपनी शक्तिके अनुसार सदाके लिये हृदय मे धारण कर लेनी चाहिये ॥२७७॥२७८॥

संसारबन्धस्य विनाशनार्थं, पलायनार्थं विषयस्पृहायाः ।
परार्थतत्त्वामृतपानहेतो र्दृग्बोधचारित्रविवर्द्धनार्थम् ॥२७९॥
स्वराज्यहेतोः क्रियते च यत्र, स्वेच्छानिरोधः सुखदं तपश्च ।
तदेव लोके विमलं तपोऽस्ति, कार्यं सदा द्वादशधा सुभव्यैः ॥२८०॥

जन्ममरण रूप संसारके बंधनको नाश करनेके लिए विषयोंकी तृष्णाको भगानेके लिये परमार्थ तत्त्वको तलाश करनेके लिए, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको सदा-

नेके लिए और आत्मजन्य शुद्ध स्वराज्य प्राप्त करनेके लिए जहांपर सुख देनेवाला इच्छा निरोधरूप तपश्चरण किया जाता है वही इस संसारमें निर्मल तपश्चरण कहलाता है । वह तपश्चरण बारह प्रकारका कहा जाता है। भव्य जीवोंको यह बारह प्रकारका तपश्चरण सदा काल धारण करते रहना चाहिए ॥ २७९ ॥ २८० ॥

मानापमानादिबहिःस्थितानां, सदा जिनाज्ञाप्रतिपालकानाम् ।
स्वात्माश्रितानां स्वसुखाश्रितानां जातो हि कर्मोदयतश्च विघ्नः ॥ २८१ ॥
भक्त्या मुनीनामपनीयते वा, सुरक्ष्यते यत्र यथार्थधर्मः ।
साधोः समाधिः सः सुखार्पकोऽस्ति, भव्यैश्च कार्यः सततं सुभक्त्या ॥२८२॥

जो मुनि मान अपमानसे अलग रहते हैं, भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका सदा पालन करते हैं, जो अपने आत्माके आश्रित रहते हैं अथवा आत्मजन्य सुखके आश्रित रहते हैं ऐसे मुनियोंके धर्मकार्यमें यदि कर्मके उदयसे कोई विघ्न आजाय तो भक्तिपूर्वक उस विघ्न को दूर करना और यथार्थ धर्मकी अच्छीतरह रक्षा करना सुख देनेवाली साधुसमाधि कहलाती है । यह साधुसमाधि भव्यजीवोंको भक्तिपूर्वक सदा करते रहना चाहिये ॥२८१॥२८२॥

समस्तसंसारबहिःस्थितानां यथार्थतत्त्वप्रतिपादकानाम् ।
या सन्मुनीनां स्वपदाश्रितानां ज्वरादिरोगैः परिपीडितानाम् ॥ २८३॥

मनोवचःकायकृतादिभेदैः, सेवा सुभाक्तिः क्रियते च यत्र ।
सेवाविधिर्वाञ्छितदः स एव, भक्त्या हि कार्यः सततं सुभव्यैः ॥ २८४ ॥

जो श्रेष्ठ मुनि समस्त ससारसे अलग रहते हैं तथा जो यथार्थ तत्त्वोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं और केवल अपने आत्माके आश्रित हैं ऐसे मुनि यदि ज्वरादि रोगोंसे पीडित हो जाय तो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे उनकी सेवा शुश्रूषा करना, उनकी भक्ति करना इच्छानुसार फल देनेवाला वयावृत्त्य कहलाता है। यह वयावृत्त्य भव्य जीवोंको भक्तिपूर्वक सदा करते रहना चाहिये ॥२८२॥२८४॥

समस्तविश्वस्य यथास्थितस्य, द्रष्टुश्च वोध्दुः सततं यथावत् ।
त्रिलोकबंधोर्जितकर्मशत्रोः, स्वर्मोक्षदातुर्भवरोगहर्तुः ॥८५॥
पूज्यार्हतो यत्र गुणा मनोज्ञा, वाक्कायचित्तैः खलु वर्ण्यते यः ।
सैवार्हतो वाञ्छितदास्ति भक्ति, मोक्षाय कार्या सततं सुभव्यैः ॥२८६॥

अत्यंत पूज्य भगवान् जिनेन्द्रदेव यथास्थित समस्त लोकको यथार्थ रीतिसे सदाकाल देखते और जानते रहते हैं। तथा वे भगवान तीनों लोकोंका हित करनेवाले हैं, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले हैं, स्वर्गमोक्षको देनेवाले हैं और संसाररूपी रोगको नष्ट करनेवाले हैं। ऐसे भगवान जिनेंद्र देवके मनोहर गुणोंको मन वचन कायसे वर्णन करना इच्छानुसार फल देनेवाली भगवान अरहंत देवकी भक्ति कहलाती है । यह अरहंतभक्ति श्रेष्ठ भव्य जीवोंको

मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सदाकाल करते रहना चाहिये ॥२८५॥२८६॥

भीमे भवाब्धौ पततां जनानां, दीक्षादिदानैः परिपालनैर्वा ।
बोधामृतैः स्वात्मविबोधनैर्वा, संसारहर्तुः सुखशांतिदातुः ॥२८७॥
गुणेऽनुरागः, क्रियते च यत्रा, चार्यस्य चानन्दपदाश्रितस्य ।
पूता सुभक्तिः सुखदास्ति सैवा, चार्यस्य भव्यैश्च सदैव कार्या ॥२८८॥

जो मनुष्य अत्यंत भयानक संसाररूपी समुद्रमें पडे हुए हैं उनको दीक्षा देकर, उनके चारित्रका पालन कराकर, उनको ज्ञानामृत पिलाकर और उनको आत्मज्ञान प्रगट कराकर उन शिष्योंके जन्ममरणरूप संसारको हरण करनेवाले तथा उनको सुख शांति देनेवाले और अपने आत्मजन्य आनंद स्थानमें अपने आत्माको लीन करने वाले आचार्यके गुणोंमें जो अनुराग करता है उसको पवित्र और सुख देनेवाली आचार्य परमेष्ठिकी भक्ति कहते हैं। यह आचार्यभक्ति भव्यजीवोंको सदा करते रहना चाहिए ॥ २८७ ॥२८८॥

ज्ञातुर्यथावद्धि जिनागमस्य, सुपाठने वा पठने सदैव ।
दक्षस्य चानन्दरसाश्रितस्य, अज्ञानहर्तुर्निजबोधकर्तुः ॥२८९॥
भक्त्या ह्युपाध्यायविभोः कृपाब्धे, गुणेऽनुरागः क्रियते च यत्र ।
सैवास्ति भक्तिः सुबहुश्रुतस्य, भक्त्या हि कार्या सततं सुभव्यैः ॥२९०॥

जो उपाध्याय परमेष्ठी जिनागमके यथार्थ ज्ञाता हैं तथा उसी जिनागमके पठन पाठन करनेमें सदा निपुणता धारण करते हैं, जो सदा आत्मजन्य आनदामृत रसके आश्रय रहते हैं जो अज्ञानको नाश करनेवाले हैं आत्मज्ञानको प्रगट करनेवाले हैं और कृपाके सागर हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीके गुणोमें भक्तिपूर्वक अनुराग करना उपाध्याय भक्ति अथवा बहुश्रुतभक्ति कहलाती है। यह उपाध्याय भक्ति भव्य जीवो को भक्तिपूर्वक सदा करते रहना चाहिये ॥२८९॥२९०॥

द्रव्यादितत्त्वस्य यथास्थितस्य, सापेक्षदृष्ट्या प्रतिपादकस्य ।
नयप्रमाणैश्च सुशोभितस्य, निजात्मबुद्धेः परिवर्द्धकस्य ॥२९१॥
अनात्मबुद्धेः प्रपलायकस्य, जिनागमस्य क्रियते च यत्र ।
सैवास्ति भक्तिः सुखदा पवित्रा, श्रुतस्य कार्या सततं सुभव्यैः ॥२९२॥

इस संसारमें जो द्रव्य और तत्त्व जिस रूपसे स्थित हैं उनको अपेक्षा दृष्टिसे जो प्रतिपादन करनेवाला है, जो नय और प्रमाणोंसे सुशोभित हैं जो अपने आत्मज्ञानको बढ़ानेवाला है और आत्मज्ञानसे रहित मिथ्याज्ञानको नाश करनेवाला है ऐसे जिनागमकी जहांपर सुख देनेवाली और पवित्र भक्ति की जाती है उसको श्रुतभक्ति वा प्रवचनभक्ति कहते हैं। यह प्रवचनभक्ति भव्य जीवोंको सदाकाल करते रहना चाहिये ॥२९१॥२९२॥

त्यक्त्वा प्रमादं निखिलं च कार्यं, यथोक्तकाले समशान्तवृत्त्या ।

दृग्बोधचारित्रविवर्द्धकं यद्दोषैरपेतं शिवसौख्यदं वा ॥२९३॥
भक्त्या षडावश्यकमेव यत्र, स्वराज्यहेतोः क्रियते सदैव ।
भव्यैः षडावश्यकमेव कार्यं, कर्मप्रणाशाय तपोऽभिवृद्ध्यै ॥२९४॥

छहों आवश्यक सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको बढानेवाले हैं, समस्त दोषोंसे रहित हैं और मोक्षके परम सुखको देनेवाले हैं। ऐसे ये छहों आवश्यक अपने आत्मजन्य स्वराज्य प्राप्त करनेकेलिये सबतरहके प्रमाद और कार्योंको छोडकर शास्त्रोंके अनुसार कहे हुए नियत समयपर समतारूप तथा शांत परिणामोंसे जहांपर सदा किये जाते हैं उनको आवश्यक कहते हैं शास्त्रोंमें कहे हुए छहों आश्यक भव्य जीवोंको अपने कर्म नष्ट करनेके लिये और तपश्चरणको बढानेके लिये अवश्य करते रहना चाहिये ॥ २९३ ॥ २९४ ॥

पूजाप्रतिष्ठाचरणैः पवित्रै बोधामृतैः क्लेशविनाशकैर्वा ।
विद्याकलाभिर्जिनमंत्रतंत्रैः, प्रवर्तनैर्वेति मिथोऽविरोधैः ॥२९५॥
धनादिदानैर्जिनधर्मवृद्धि, र्व्रतोपवासैः क्रियते च यत्र ।
प्रभावना सैव सुखस्य दात्री धर्मस्य कार्या सततं सुभव्यैः ॥२९६॥

पवित्र पूजा करके प्रतिष्ठा करके, सदाचरण पालन करके समस्त क्लेशोंको दूर करनेवाले आत्मजन्य ज्ञानामृत को धारण करके वा विद्या कलाओंको प्रगट करके जिनमतमें कहे हुए मंत्रतंत्रों का प्रभाव दिखला करके, सबके साथ अविरोध रीतिसे अपनी प्रवृत्ति दिखला

करके, धनादिकका दान दे करके और व्रत उपवास करके ज... जिनधर्मकी वृद्धि की जाती है उसको सुख देनेवाली धर्मकी प्रभावना कहते हैं। यह धर्मकी प्रभावना भव्यजीवों को सदाकाल करते रहना चाहिये ॥ २९५ ॥ २९६ ॥

निजात्मनिष्ठैः परमार्थपुष्टै, स्तत्त्वार्थतुष्टैर्जिनधर्मजुष्टैः ।
सधर्मभिर्धर्मरतैश्च सार्द्धं, सदा प्रमोदः क्रियते च यत्र ॥२९७॥
वत्सेन सार्द्धं च यथा जनन्या, तथात्मनिष्ठैर्मुनिभिःसुधीरैः ।
स्वर्मोक्षदा वत्सलता सुभव्यैः, सधर्मणो वा हृदि भावनीया ॥२९८॥

जो साधर्मी जन अपने आत्मामें सदा लीन रहते हैं, जो परमार्थकी पुष्टि करते रहते हैं, तत्त्वार्थप्रेमसे सदा संतुष्ट रहते हैं, जिनधर्मको सदा प्रेमपूर्वक धारण करते हैं और धर्म में सदा लीन रहते हैं, ऐसे धर्मात्माओंके साथ जिसप्रकार माता अपने बच्चेके साथ प्रेम करती है उसीप्रकार अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले धीर वीर मुनिराज जो प्रेम करते रहते हैं वा उन धर्मात्माओंको देखकर प्रसन्न होते रहते हैं उसको धर्मवत्सलता कहते हैं। यह स्वर्ग मोक्षको देनेवाली धर्मवत्सलता भव्य जीवों को सदा काल अपने हृदयमें चिंतन करनी चाहिये ॥ २९७ ॥ २९८ ॥

आसां ध्रुवं षोडशभावनानां, योगेन तीर्थंकरनामकर्म ।
लोके सदाश्चर्यकरं मनोज्ञं, जगत्प्रियं बध्यत एव भव्यैः ॥२९९॥

है, शत्रुविरोधका नाश होजाता है, आत्मजन्य स्वराज्यकी प्राप्ति हो जाती है और जन्ममरण का नाश हो जाता है। यही समझकर भव्य जीवोंको समस्त जीवोंके प्रति मोक्ष देनेवाला कोमल परिणाम वा मार्दवधर्म सदाकाल धारण करते रहना चाहिये ॥२०४॥२०५॥

शीलव्रतध्यानजपक्षमाद्याः, पूजाप्रतिष्ठात्मविचारभावाः ।
वृथा भवेदार्जवधर्मलोपाद्, ज्ञात्वेति चित्ते च यथाविचारः ॥२०६॥
कायेन कार्यो वचसापि वाच्य, स्तथा सदा ह्यार्जवधर्म एव ।
स्वर्मोक्षदो वाञ्छितवस्तुदाता, भवेद्धि शीघ्रं भवरोगहर्ता ॥२०७॥

जो मनुष्य आर्जव धर्मको नष्ट कर देता है उसके शील, व्रत, ध्यान जप, क्षमा, पूजा, प्रतिष्ठा और आत्माके श्रेष्ठ विचार सब व्यर्थ हो जाते हैं । यही समझकर भव्यजीवों को अपने विचार जैसे अपने मनमें करने चाहिये वैसे ही वचन से कहना चाहिये तथा उसी प्रकार शरीरसे करना चाहिये। इसीको आर्जव धर्म कहते हैं। यह आर्जव धर्म स्वर्गमोक्षको देनेवाला है, इच्छाके अनुकूल पदार्थोंको देनेवाला है और शीघ्र ही संसाररूपी रोगको हरण करने वाला है ॥२०६॥२०७॥

पापस्य मूलं कथितोऽस्ति लोभः, समस्तसंतापविवर्द्धको वा ।
संसारबंधस्य च मुख्यहेतु, स्तथैव संकल्पविकल्पजालः ॥२०८॥

त्याज्यः स लोभो ह्यवगम्य चैवं, समस्तसाम्राज्यनिधानभूतः ।
स्वर्मोक्षदो वा सुखशान्तिकोशः, शुचित्वधर्मः परिपालनीयः ॥३०९॥

यह लोभ भगवान् जिनेंद्रदेवने पापका मूल वतलाया है तथा यही लोभ समस्त संतापोंको वढानेवाला है संसारके बंधनोंका मुख्य कारण है और अनेक संकल्प विकल्पोंका जाल है। यही समझकर भव्य जीवोंको इस लोभका त्याग कर देना चाहिये और समस्त साम्राज्य का खजाना, स्वर्ग मोक्ष देनेवाला और सुख शांतिका निधान ऐसा शौचधर्म सदा पालन करते रहना चाहिये ॥३०८॥३०९॥

अशान्तिदं साध्वसवैरकारि, भ्रान्तिप्रदं धर्मविरुद्धवाक्यम् ।
संतापदं क्लेशकरं न वाच्यं, प्राणेष्वसत्यं च गतेषु सत्सु ॥३१०॥
तथा सुभव्यैः स्वपरार्थशान्त्यै निजात्मसिध्यै मधुरं मनोज्ञं ।
शान्तिप्रदं भ्रान्तिहरं क्षमादं, सत्यं हितं प्रीतिकरं हि वाच्यम् ॥३११॥

असत्य वचन अशांति उत्पन्न करनेवाले हैं, विरोध करनेवाले हैं भ्रांतिको उत्पन्न करते हैं और धर्मके विरुद्ध हैं इसके सिवाय असत्यवचन सवको संतप्त करनेवाले हैं और क्लेशको उत्पन्न करनेवाले हैं, ऐसे असत्य वचन भव्य जीवोंको अपने प्राण जानेपर भी कभी नहीं वोलने चाहिये तथा अपने आत्मा को और अन्य जीवोंको शांत करनेके लिये वा अपने आत्माकी सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेके लिये मधुर, मनोज्ञ, शांति देनेवाले, भ्रांतिको हरण करने-

वाले, क्षमाको प्रगट करनेवाले और प्रेम उत्पन्न करनेवाले तथा सबका हित करनेवाले सत्य-वचन ही सदा बोलने चाहिये ॥२१०॥२११॥

षट्कायजीवस्य सुरक्षकोऽस्ति, चित्ताक्षवेगस्य निरोधकोऽपि ।
अनात्मबुद्धेः प्रपलायकोऽस्ति, सदात्मबुद्धेः परिवर्द्धकश्च ॥२१२॥
स्वर्मोक्षदः संयम एव शक्तो, ज्ञात्वेति भव्यैः परिरक्षणीयः ।
श्रीमान्न शास्त्री न मुनिर्विभाति, नारी नरः संयमरत्नहीनः ॥२१३॥

संयमधर्म छहों कायके जीवोंकी रक्षा करनेवाला है, मन और इन्द्रियोंके वेगको रोकनेवाला है, आत्मज्ञानसे बाहर रहनेवाली मिथ्याबुद्धिका नाश करनेवाला है, आत्मज्ञानको बढानेवाला है और स्वर्गमोक्षको देनेवाला है। इन सब कामोंके लिये एक संयम ही समर्थ है। यही समझकर भव्य जीवोंको इस संयमधर्मका पालन सदाकाल करते रहना चाहिये। इस संयमरूपी रत्नके विना न तो कोई मनुष्य शोभायमान होता है, न कोई स्त्री शोभायमान होती है, न कोई धनवान शोभायमान होता है, न कोई शास्त्री शोभायमान होता है और न कोई मुनि शोभायमान होता है ॥ २१२ ॥ ॥ २१३ ॥

मिथ्याप्रपंचस्य पलायनार्थं, समस्तकर्मारिविनाशनार्थम् ।
पंचाक्षवह्निं शमितुं समर्थं, शीघ्रं च भेत्तुं बहिरात्मबुद्धिम् ॥२१४॥

इच्छानिरोधः खलु तस्य [illegible] जिनैः प्रणीतं द्विविधं तपश्च ।
ज्ञात्वेति कार्यं निजराज्यहेतोः स्वर्मोक्षदं वाञ्छितदं सदैव ॥२१५॥

भगवान जिनेन्द्रदेवने इस तपश्चरणका लक्षण इच्छाका रोकना बतलाया है, तथा अंतरंग बाह्यके भेदसे दो भेद बतलाये हैं। यह तपश्चरण मिथ्याप्रपंचोंको नष्ट करनेमें समर्थ है, पांचों इन्द्रियरूपी अग्निको शांत करनेमें समर्थ है, बहिरात्मबुद्धिका नाश करनेमें समर्थ है, स्वर्ग मोक्षको देनेवाला है और समस्त इच्छा ओंको पूर्ण करनेवाला है। यही समझकर भव्य जीवोंको अपना आत्मजन्य राज्य प्राप्त करनेके लिये सदाकाल इस तपश्चरणका पालन करते रहना चाहिये ॥ २१४ ॥ २१५ ॥

पूताय संघाय चतुर्विधाय, सदा जिनाज्ञाप्रतिपालकाय ।
संसारमोहादिविनाशकाय, चतुर्गतेर्मार्गनिरोधकाय ॥२१६॥
भव्याय संकल्पविकल्पहर्त्रे, रत्नत्रयाणां परिपालकाय ।
चतुर्विधं क्लेशहरं सुदानं दातव्यमेवं शिवसौख्यहेतोः ॥२१७॥

मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका यह चारों प्रकारका संघ अत्यंत पवित्र है सदाकाल भगवान जिनेंद्रदेवकी आज्ञाका पालन करनेवाला है, संसार और मोहादि विकारोंको नष्ट करनेवाला है, चारों गतियोंके मार्गको रोकनेवाला है समस्त संकल्प विकल्पोंको हरण करनेवाला है रत्नत्रयको पालन करनेवाला है और भव्य है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेवाला है। ऐसे

चारो प्रकारके संघको मोक्षसुख प्राप्त करनेके लिये समस्त क्लेशोंको दूर करनेवाला चारों प्रकारका दान अवश्य देना चाहिये ॥ ३१६ ॥ ३१७ ॥

वाह्यादिभेदाद्द्विविधश्च संगो, ह्यनर्थकारी सुखशान्तिहारी ।
स्वर्गापवर्गादिनिरोधकारी, ह्याशाग्रहाणां परिवर्द्धकोऽस्ति ॥३१८॥
समस्तसंतापनिधानमेव, ह्येवं यथावत्कथितोऽल्पबुध्या ।
ज्ञात्वेति शीघ्रं च स्वराज्यहेतो, स्त्याज्यो हि भव्यैर्द्विविधोऽपि संगः ॥३१९॥

यह परिग्रह वाह्य और अभ्यंतरके भेदसे दो प्रकारका है । यह दोनों प्रकारका परिग्रह अनेक अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाला है, सुख और शांतिको हरण करनेवाला है, स्वर्ग मोक्ष आदि कल्याणोंको रोकनेवाला है, आशारूपी ग्रहोंको वढानेवाला है और समस्त संतापोंका खजाना है । इस प्रकार श्रीकुंथुसागर मुनिने अपनी अल्प बुद्धिके अनुसार यथार्थरीतिसे निरूपण किया है । यही समझकर भव्य जीवोंको अपना आत्मजन्य राज्य प्राप्त करनेके लिये शीघ्र ही दोनो प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर देना चाहिये ॥३१८॥३१९

वंधस्य मूलं हि कलत्रमेव, मोक्षस्य मूलं त्यजनं च तस्य ।
ज्ञात्वेति शीघ्रं हि कलत्रमात्रं, त्यक्त्वापि सम्बंधभवं प्रदोषम् ॥३२०॥
मनोवचःकायकृतादिभेदै, मोक्षप्रदे सौख्यमये स्वराज्ये ।
शान्तिप्रदे स्वात्मन एव धर्मे, स्थातुं प्रयत्नश्च सदा विधेयः ॥३२१॥

इस संसारमें कर्मबंधका मूलकारण स्त्री है और मोक्षका मूल कारण उसका त्याग है यही समझकर भव्य जीवोंको शीघ्र ही स्त्रीमात्रका त्याग कर देना चाहिए और उसके संबंधसे होनेवाले दोषोंका भी त्याग कर देना चाहिए तथा मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे मोक्षप्रदान करनेवाले, अनंत सुखमय, अत्यंत शांति देने वाले और अपने स्वराज्यरूप अपने आत्माके विज्ञानमय धर्ममें सदा काल स्थिर रहनेका प्रयत्न करना चाहिए। इसीको ब्रह्मचर्य धर्म कहते हैं ॥ ३२० ॥ ३२१ ॥

वद निःशंकितादीनामंगानां लक्षणं गुरो ! प्रश्न:—हे गुरो ! कृपाकर कहिये कि सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि अंग कैसे हैं ?

निर्दोषयोगाद्धि जिनोक्त एव, मोक्षस्य मार्गः सुखदः पवित्रः ।
रत्नत्रयेणापि विभूषितश्च, सर्वस्य जन्तोरभयप्रदो हि ॥३२२॥
ज्ञात्वेति कौ ये जिनधर्ममार्गे, श्रद्धां प्रकुर्वन्ति सदा ह्यकंपाम् ।
निःशंकितांगं विमलं च गाढं, दृष्टेर्भवेदंजनचौरवद्धा ॥३२३॥

उत्तर:—इस संसारमें सुख देनेवाला और पवित्र मोक्षमार्ग भगवान जिनेंद्रदेवका कहा हुआ है क्योंकी वही निर्दोष है, रत्नत्रयसे विभूषित है और समस्त प्राणियोंको अभय देनेवाला है। यही समझकर इस संसारमें जो भव्य जीव भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए इस धर्ममार्ग वा मोक्षमार्गमें अटल श्रद्धान रखते हैं उनके ही अंजनचौरके समान निर्मल और गाढ ऐसा सम्यग्दर्शनका निःशंकित नामका पहला अंग होता है ॥ ३२२ ॥ ३२३ ॥

निजात्मबाह्ये क्षणिके च भीमे, क्लेशादिपूर्णे परतश्च जाते ।
त्यक्ते च निंद्ये सुनिजात्मनिष्ठैः, रादौ प्रिये वा कटुके हि चान्ते ॥३२४॥
एतादृशे सौख्य इहान्यलोके, कुर्वन्ति नास्थां न कदापि कांक्षाम् ॥
भवेद्धि तेषां शिवदं पवित्रं, वंद्यं हि निःकांक्षितमेव चांगं ॥३२५॥

यह इस लोकसंबंधी अथवा परलोकसंबंधी सुख अपने आत्मासे भिन्न है, क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाला है, भयंकर है, अनेक क्लेशोंसे परिपूर्ण है, पुद्गलादिक अन्य पदार्थोंसे उत्पन्न होता है, निंदनीय है, अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले मुनियोंके द्वारा त्याग किया हुआ है, पहले भोगते समय अच्छा मालूम होता है परंतु अंतमें कडवा वा दुःख देनेवाला है ऐसे इस लोक और परलोक संबंधी सुखमें जो पुरुष कभी श्रद्धान नहीं करते और कभी उसकी इच्छा नहीं करते उन पुरुषोंके मोक्ष देनेवाला पवित्र और वंदनीय ऐसा सम्यग्दर्शनका निःकांक्षित नामका दूसरा अंग होता है ॥ ३२४ ॥ ३२५ ॥

तुच्छे निसर्गान्मलिनेऽपवित्रे, बीभत्सभीमे मलमूत्रयुक्ते ।
रत्नत्रयस्य स्वगुणस्य योगात्पवित्रभूते शिवहेतुदेहे ॥३२६॥
स्वात्माश्रितानां शिवसाधकानां, ग्लानिं न कुर्वन्ति गुणप्रमोदात् ।
स्वमोक्षदं संभवरोगहर्तृ, तेषां भवेन्निर्विचिकित्सितांगम् ॥३२७॥

जो मुनिराज अपने आत्माके आश्रित रहते हैं और मोक्षका साधन करते रहते हैं उनका शरीर यद्यपि तुच्छ है स्वभावसे ही मलिन है, अपवित्र है, घृणित है, भयानक है, और मलमूत्रसे भरा है तथापि रत्नत्रय गुण के निमित्तसे वह अत्यंत पवित्र है। ऐसे मुनियोंके शरीरमें उनके गुणोंसे प्रसन्न होकर जो कभी ग्लानी नहीं करते उन भव्य जीवोंके स्वर्ग मोक्षको देनेवाला और संसारके रोगोंका हरण करनेवाला ऐसा सम्यग्दर्शन का निर्विचिकित्सित नामक तीसरा अंग होता है ॥३२६॥३२७॥

क्लेशादियुक्ते कुटिले कुमार्गे, भ्रांतिप्रदेऽनन्तभवप्रदे च।
मिथ्याप्रपंचस्थितजीववर्गे, स्वर्मोक्षबाह्ये सकले कुधर्मे ॥३२८॥
प्रीतिः प्रशंसानुमतिः स्थितिश्च, मनोवचः कायकृतादिभेदैः।
यैर्भव्यजीवैः क्रियते न यत्र, दृष्टिर्ह्यमूढा भवतीह तेषाम् ॥ ३२९ ॥

जो मोक्षका मार्ग अनेक क्लेशोंसे भरा हुआ है, कुटिल है, भ्रांति करनेवाला है और अनंत भवोंको देनेवाला है तथा इसीलिये जो कुमार्ग कहलाता है ऐसे कुमार्ग में तथा मिथ्याप्रपचोंमें रहनेवाले जीवोंके समूहमें और स्वर्गमोक्षके साधनोंसे अलग रहनेवाले समस्त कुधर्मोंमें मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे जो भव्य जीव न प्रेम करते हैं। न उनकी प्रशंसा करते हैं, न अनुमति देते हैं और न उनमें रहते हैं उनके अमूढदृष्टि नामका सम्यग्दर्शनका चौथा अंग होता है ॥ ३२८ ॥ ३२९ ॥

विवेकशून्यैः कृपणैर्गृहस्थै, र्निजात्मशून्यैर्मुनिभिश्च जाता।

श्रीजैनधर्मस्य शिवप्रदस्य, ग्लानिश्च निंदा ह्यपनीयते या ॥३३०॥
बोधामृतैर्ज्ञानबलैः सुदानैर्यैर्यत्र भव्यैर्जिनधर्मनिष्ठैः ।
भवेद्धि तेषामुपगूहनांगं, शान्तिप्रदं भ्रान्तिहरं मनोज्ञं ॥३३१॥

यह जैनधर्म मोक्षप्रदान करनेवाला है, इसकी निंदा वा ग्लानि यदि किसी विवेकरहित कृपण गृहस्थसे हो गई हो वा आत्मज्ञानरहित किसी मुनिसे होगई हो तो उसको जिनधर्म की अटल श्रद्धा रखनेवाले जो भव्य जीव अपने ज्ञानबलसे अथवा उपदेशरूपी अमृतसे अथवा श्रेष्ठ दानादिक देकर अवश्य दूर करते हैं। पवित्र जिनधर्म की निंदा कभी नहीं होने देते, उसको शांति देनेवाला भ्रांतिको हरण करनेवाला और अत्यंत मनोज्ञ ऐसा उपगूहन नाम का अंग कहते हैं। यह सम्यग्दर्शनका पांचवां अंग है ॥३३०॥३३१॥

स्वर्मोक्षदातुर्जिनधर्ममार्गाद्रत्नत्रयात्स्वात्मरसात्स्वधर्मात् ।
भीमे भवाब्धौ पततां जनानां, श्रद्धालुभिर्यत्र निजात्मनिष्ठैः ॥३३२॥
ज्ञानामृतैर्धैर्यधनादिदानैः, क्षिप्रं पुनर्यैर्जिनधर्ममार्गे ।
सुस्थापना वा क्रियते स्थितिश्च, स्थितेः सुकार्यं भवतीह तेषाम् ॥३३३॥

यह जिनधर्मका मार्ग रत्नत्रयस्वरूप है और स्वर्ग मोक्षका देनेवाला है। ऐसे रत्नत्रय-

स्वरूप मोक्षमार्गसे अथवा अपने आत्मजन्य आनंदामृत रसके अथवा अपने आत्माके उत्तम क्षमादिक धर्मोंसे गिरकर अर्थात् उनको छोडकर जो पुरुष इस भयानक संसाररूपी समुद्रमें पडरहे हों वा पडना चाहते हों उनको अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले जो श्रद्धालु पुरुष ज्ञानरूपी अमृतकी वर्षा कर वा धैर्य बधाकर अथवा धनादिकका दान देकर उसी जिनधर्म के मार्गमें वा मोक्षके मार्गमें शीघ्र ही स्थापन कर देते हैं अथवा उनकी स्थिरता कर देते हैं उनके स्थितिकरण नामका सम्यग्दर्शनका छठा अंग होता है ॥२३२॥२३३॥

मिथ्याप्रपंच कुटिलं विचारं, विहाय तेषां सुगुणानुरागात् ।
निःस्वार्थबुध्या विनयादिसेवाः स्वात्माश्रितानां जिनधार्मिकाणाम् ॥२३४॥
मनोवचःकायकृतादिभेदैः कुर्वन्ति ये धर्मविदो दयार्द्राः ।
वात्सल्यरूपं सुखशांतिदातृ, भवेद्धि तेषां विमलं शुभांगम् ॥२३५॥

जो श्रावक वा मुनि अपने आत्माके आश्रित रहनेवाले हैं, उनके श्रेष्ठ गुणोंमें अनुराग रखकर तथा अपने मिथ्यात्वके समस्त भेदोंको और कुटिल विचारोंको छोडकर जो धर्मात्मा और दयालु पुरुष विना किसी प्रकारकी स्वार्थबुद्धिके मन वचन काय और कृत–कारित–अनुमोदना से उनकी विनय वा सेवा करते हैं उनके सुख और शांति को देनेवाला अत्यंत निर्मल और शुभ ऐसा वात्सल्य नामका सम्यग्दर्शनका सातवां अंग होता है ॥ २३४ । २३५ ॥

क्लेशादिदात्रीं सुखशांतिहर्त्रीं, मिथ्यात्वजातां विषमां ह्यविद्याम् ।
विद्याकलाभिर्यजनादिदानै, र्बोधामृतैर्ध्यानतपः सुदृष्ट्या ॥३३६॥
केनाप्युपायेन पलाययित्वा, सर्वोपरित्वं जिनशासनस्य ।
प्रदर्श्यते यैः शिवदायकं तत्, प्रभावनांगं विमलं हि तेषाम् ॥३३७॥

यह मिथ्यात्वसे उत्पन्न हुई अविद्या अत्यंत क्लेश देनेवाली है, अत्यंत विषम है और सुख शांतिको हरण करनेवाली है। इसको जो पुरुष अपनी विद्या वा कलाओंसे पात्रदान वा देवपूजन से ज्ञानरूपी अमृतसे, ध्यानसे, तपसे, सम्यग्दर्शनसे अथवा अन्य किसी भी उपाय से नष्ट कर जिनशासन की उत्तमता सर्वोपरि दिखलाते हैं उनके अत्यंत निर्मल और मोक्ष देनेवाला ऐसा प्रभावना नामका सम्यग्दर्शनका आठवां अंग होता है ॥ ३३६ ॥ ३३७ ॥

अष्टांगमेवं शिवसाधकं च, संसारमूलस्य विनाशकं वा ।
यथार्थवस्तुप्रतिपादकं च, स्वात्मानुभूतेः परिपालकं हि ॥३३८॥
श्रीकुंथुनाम्ना मुनिनेति सूक्तं, बुध्द्वेति ये के हृदि धारयंते ।
सदैव शक्त्या परिपालयंते, ते स्वर्गमोक्षं क्रमतो लभन्ते ॥३३९॥

इस प्रकार यह आठों अंगोंका समुदाय मोक्षका साधक है, संसारके मूलको नाश करनेवाला है, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाला है और स्वात्मानुभूतिको

प्रतिपादन करनेवाला है, ऐसा मुनिराज श्रीकुंथुसागरजीने प्रतिपादन किया है। इन सबको समझकर जो कोई मनुष्य इनको अपने हृदयमें धारण करते हैं अपनी शक्तिके अनुसार इन सबको सदा पालन करते हैं वे मनुष्य अनुक्रमसे स्वर्गादिकोंके सुखोंको भोगकर अंतमें मोक्ष प्राप्त करते है॥ २३८ ॥ २३९ ॥

प्रथमेंऽजनचोरोऽङ्गेऽनन्तमती स्पृहातिगा । द्वितीयेंऽगे तृतीयेंऽपि ह्युद्दायनो नृपः प्रभुः ॥२४०॥ चतुर्थे रेवती राज्ञी जिनभक्तोऽथ पंचमे । षष्ठे श्रेष्ठोत्तमो योगी वारिषेणो नृपात्मजः ॥२४१॥ विष्णुनामा मुनिर्धीरः सप्तमे भव्यवत्सलः । वज्रनामा मुनिर्वीरो ह्यष्टमे क्रमतोऽभवत् ॥२४२॥ पूर्वोक्तानां च भव्यानामष्टांगधारिणां सताम् । सदानुकरणं कार्यं भव्यैः स्वमोंक्षहेतवे २४३

इन आठो अगोंमेसे पहले निःशंकित अगमें अंजनचोर प्रसिद्ध हुआ है, दूसरे निःकांक्षित अगमें इच्छाओंको न रखनेवाली अनंतमती प्रसिद्ध हुई हैं तीसरे निर्विचिकित्सा अंगमें उद्दायन राजा प्रसिद्ध हुआ है। चौथा अमूढदृष्टि अगमें रेवती रानी प्रसिद्ध हुई है पांचवें उपगूहन अंगमें राजा उद्दायन प्रसिद्ध हुआ है। छठे स्थितिकरण अंगमें राजा श्रेणिक के पुत्र सर्वोत्तम मुनिराज वारिषेण प्रसिद्ध हुए हैं। सातवें वात्सल्य अंगमें प्रेम रखनेवाले धीरवीर मुनि विष्णुकुमार प्रसिद्ध हुए हैं तथा आठवें प्रभावना अगमें धीर वीर मुनिराज वज्रकुमार प्रसिद्ध हुए है। इस प्रकार आठो अंगोंमें अनुक्रमसे प्रसिद्ध हुए हैं

भव्य जीवोंको स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करनेके लिए आठो अगोंको धारण करनेवाले इन ऊपर कहे हुए सज्जन भव्य पुरुषोंका सदा अनुकरण करते रहना चाहिये ॥३४०–३४३॥

लक्षणं मूढतानां भो वद मे साम्प्रतं गुरो ! हे गुरो ! अब मेरे लिए मूढताओंका लक्षण कहिये ?

क्रोधस्य लोभस्य परात्मबुद्धे, र्विनाशनेनैव भवेत्सुधर्मः ।
स्वर्मोक्षदाता च जिनोक्त एव, त्यक्त्वा खलास्तं च जिनोक्तधर्मम् ३४४

स्नानेन नद्यां तपनेन चाग्नौ, ब्रुवन्ति पत्या मरणेन सार्द्धम् ।
धर्मं च तत्रैव चलन्ति निंद्ये, लोकस्य तेषामिति मूढतापि ॥३४५॥

इस संसारमें श्रेष्ठ धर्म क्रोधका त्याग करने लोभका त्याग करने और परपदार्थों में आत्मबुद्धिका त्याग करनेसे होता है, तथा वही श्रेष्ठ धर्म भगवान् जिनेंद्र देवका कहा हुआ है और स्वर्गमोक्षका देनेवाला है। जो दुष्ट लोग भगवान जिनेंद्रदेवके कहे हुए इस श्रेष्ठ धर्म को छोडकर नदीमें स्नान करने को धर्म बतलाते हैं, अग्निमें तपनेको धर्म बतलाते हैं और पतिके साथ मरनेको धर्म बतलाते हैं तथा उसी अपने बतलाये निंद्य धर्ममें स्वयं चलते हैं वा उस धर्मको धारण करते हैं उनका उस निंद्य धर्मका धारण करना लोमूढता कहलाती है ।४४ ४५

निजात्मबाह्याश्च विवेकशून्या, ये केऽपिमूर्खा धनपुत्रहेतोः ।
भक्त्या कुदेवान् जिनधर्मबाह्यान्, नमन्ति वान्यान् खलु नासयन्ति ४६

नवाञ्छ तेषामिति देवतायाः, स्वराज्यहर्त्री खलु मूढतापि ।
ज्ञात्वेति भव्यैः परमार्थनिष्ठैः, न वन्दनीया जिनबाह्यदेवाः ॥३४७॥

जो लोग अपने आत्मज्ञानसे रहित हैं और विवेक रहित हैं ऐसे मूर्ख धन वा पुत्रकी प्राप्तिके लिये जिनधर्मसे रहित ऐसे कुदेवोंको भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं और अन्य जीवोंसे नमस्कार कराते हैं ऐसे जीवोंका कुदेवोंको नमस्कार करना वा कराना देवमूढता कहलाती है। यह देवमूढता आत्मजन्य स्वराज्यको वा सुखको हरण करने वाली है। यही समझकर परमार्थमें तल्लीन हुए भव्य जीवोंको जिनधर्मसे रहित देवोंकी कभी वंदना नहीं करनी चाहिये ॥३४७॥

स्वात्मच्युतानां विषयाश्रितानां, गृहस्थयोग्यं भवदं च कार्यम् ।
प्रकुर्वतां क्लेशकरं कुकर्म, पाखंडिनां धर्मविरोधकानाम् ॥३४८॥
मंत्रादिहेतोर्व्यवहारतोऽपि, पूजा प्रशंसा क्रियते च यैर्हि ।
तेषां भवेद् दुःखभयं व्यथादं, पाखंडिमूढत्वमिति स्वभावात् ॥३४९॥

जो पाखंडी वा कुगुरु अपने आत्मज्ञानसे रहित हैं, विषयोंके लोलुपी हैं, धर्मके विरोधी हैं और इस पृथ्वीपर गृहस्थोंके योग्य तथा संसारको बढानेवाले कार्य किया करते हैं अथवा क्लेश उत्पन्न करनेवाले अनेक कुकर्म किया करते हैं ऐसे पाखंडी साधुओंकी जो लोग किसी मंत्रादि के लिये अथवा अपना व्यवहार दिखलानेके लिये पूजा वा प्रशंसा करते हैं उसको स्वभावसेही दुःख और पीडा देनेवाली पाखंडिमूढता कहते हैं ॥ ३४८ ॥ ३४९ ॥

साम्प्रतं सद्गुरो ! ब्रूहि षडायतनलक्षणम् ? प्रश्नः—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि छह आयतनोंका लक्षण क्या है ।

चतुर्गतीनां खलु कारणस्य, भक्त्या कुदेवस्य तथैव तस्य ।
भक्तस्य सत्यार्थविदा नरेण, स्तुतिःसुपूजा न कदापि कार्या ॥३५०॥
देवे सुभक्ते खलु तस्य कार्या, न द्वेषबुद्धिर्भवदायिकापि ।
ज्ञात्वेति वंद्यो भुवि बोधनार्थं, निर्दोषदेवः खलु तस्य भक्तः ॥३५१॥

उत्तरः—कुदेव और उनके भक्त चारों गतियोंमें परिभ्रमण करानेवाले हैं । अतएव पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले भव्य जीवोंको इन कुदेव और उनके भक्तोंकी भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति कभी नहीं करनी चाहिये । इसी प्रकार देव और उनके श्रेष्ठ भक्तोंमें संसारको बढानेवाली द्वेषबुद्धि भी कभी नहीं करनी चाहिये । यही समझकर भव्य जीवोंको अपना आत्मज्ञान उत्पन्न करनेके लिये निर्दोष देव और उनके भक्तोंकी ही वंदना करनी चाहिये ॥ ३५० ॥ ३५१ ॥

स्वमोक्षमार्गातिविनाशकस्य, ह्येकान्तपक्षैरतिदूषितस्य ।
संगः कुशास्त्रस्य च पाठकस्य, कार्यो न भव्यैः पठनं कदापि ॥३५२॥
शास्त्रे जिनोक्तेऽस्य च पाठके च, न द्वेषबुद्धिश्च कदापि कार्या ।
[illegible] जिनोक्तं [illegible] हि शास्त्रं भुवि बोधनार्थम् ॥३५३॥

इस संसारमें कुशास्त्र और उनके पढनेवाले लोग स्वर्ग और मोक्षके मार्गका अत्यंत नाश करनेवाले हैं और एकांतपक्षसे अत्यंत दूषित हैं। अत एव भव्यपुरुषोंको कुशास्त्र और उनके पढानेवालोंका समागम कभी नहीं करना चाहिये और न कभी उन शास्त्रोंका पठन पाठन करना चाहिये। इसीप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंमें तथा उनके पठन पाठन करनेवालोंमें कभी द्वेषबुद्धि न करनी चाहिये। यही समझकर अपना आत्मज्ञान प्रगट करने के लिये भव्यजीवोंको अपेक्षाकृत नयोंसे सुशोभित ऐसे भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंका सदाकाल पठन पाठन करना चाहिये ॥ ३५२ ॥ ३५३ ॥

कुमार्गनेतुः कुगुरोश्च तस्य, शिष्यस्य मिथ्यात्वविवर्द्धकस्य ।
समस्तसंतापनिधानमूर्तेः, संगो न कार्यो विनयोपचारः ॥३५४॥
न दुष्टबुद्धिः सुगुरौ सुशिष्ये, कार्या सुभव्यैरतिपापदा सा ।
गुरुर्विसंगी सुखशांतिदाता, भवेद्दयार्द्रो भुवि बोधनार्थम् ॥३५५॥

कुगुरु और उनके शिष्य दोनों ही मिथ्यात्वको बढाने वाले हैं, कुमार्गमें ले जानेवाले हैं और समस्त संताप के खजाने की मूर्ति हैं अतएव ऐसे कुगुरु और उनके शिष्यों का समागम कभी नहीं करना चाहिए और न कोई उन का उपचार विनय करना चाहिए। इसी प्रकार श्रेष्ठ भव्य जीवोंको सुगुरु और सुशिष्योंमें पाप उत्पन्न करनेवाली द्वेषबुद्धि भी कभी नहीं करनी चाहिए। भव्य जीवोंको अपना आत्मज्ञान प्रगट करने के लिए दयालु सुख शांतिको देनेवाला

और समस्त परिग्रहोंसे रहित ऐसा निर्ग्रंथ गुरु ही बनना चाहिए ॥ ३५४ ॥ ३५५ ॥ आचार्य कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु तथा इन तीनों के भक्तोंकी सेवा भक्ति करना छह अनायतन हैं और देव शास्त्र गुरु तथा इनके भक्तोंकी सेवा भक्ति करना छह आयतन हैं ॥

भो गुरो ! कथनीयानि भव्यानां लक्षणानि च ? प्रश्न.—हे गुरो ! अब इसका भव्योंके लक्षण कहिये ?

स्थापनात्पाठशालानां पठनात्पाठनात् भवेत् । ज्ञानोपकरणादेर्वा दानाद् ज्ञानं शिवप्रदम् ॥ ज्ञात्वेति ज्ञानदानं हि कार्यं निःस्वार्थतः सदा । प्राणेष्वितेष्वपि ज्ञानगर्वः कार्यो न हानिदः ॥३५७॥

उत्तरः—पाठशालाओंके स्थापन करनेसे तथा भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंके पठन पाठन करनेसे अथवा ज्ञानके उपकरणोंका दान देनेसे मोक्ष देनेवाला आत्मज्ञान प्रगट होता है । यही समझकर भव्य जीवोंको अपनी निःस्वार्थ बुद्धिसे सदा ज्ञानदान करते रहना चाहिये तथा अपने प्राणोंका नाश होनेपर भी संसारको बढानेवाला ज्ञानका मद कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३५६ ॥ ३५७ ॥

कुर्वन्ति स्वात्मशून्या हि पूजामदं भवप्रदम् । सन्तः स्वानन्दपुष्टा न ते जानन्ति निजात्मनः ॥ पूजा प्रतिष्ठा लोकेस्मिन् पुण्योदयेनलभ्येत । धर्मः परोपकारो वा कर्तव्यः प्राप्य तां शुभाम् ॥३५९॥ पूजामदो न कार्यो हि

ज्ञात्वेति भववर्द्धकः । सरसै रसिकैर्भव्यैर्जिनाज्ञाप्रतिपालकैः ॥३६०॥

जो मनुष्य आत्मज्ञानसे रहित हैं वे ही पुरुष संसारको बढानेवाला पूजा प्रतिष्ठा का अभिमान करते हैं। जो सज्जन हैं और आत्मजन्य आनंदसे परिपुष्ट हैं वे कभी पूजा प्रतिष्ठाका अभिमान नहीं करते। क्योंकि वे आत्माके स्वरूपको जानते हैं। वे समझते हैं कि इस संसारमें पूजा प्रतिष्ठा पुण्योदयसे प्राप्त होती है। अतएव इस शुभरूप पूजा प्रतिष्ठाको पाकर धर्मकार्य करना चाहिये अथवा परोपकार करना चाहिये। यही समझकर भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको प्रतिपालन करनेवाले रसिक और सरस भव्य जीवोंको संसारको बढानेवाला पूजा प्रतिष्ठाका अभिमान कभी नहीं करना चाहये ॥ ३५८ ॥ ३५९ ॥ ३६० ॥

भवत्युच्चकुले जन्म पुण्यात्स्वमोक्षसाधके। नीचे कुले ध्रुवं पापादर्हत्पूजादिरोधके ॥३६१॥ प्राप्तोऽस्म्यनन्तवारं कौ कुयोनिं मददोषतः। कार्यः कुलमदो नैव ज्ञात्वेति भवभीरुभिः ॥३६२॥

इस ससारमें पुण्यकर्मके उदयसे स्वर्ग मोक्षको सिद्ध करने योग्य उच्च कुलमें जन्म होता है तथा पापकर्मके उदयसे जिसमें भगवान अरहंत देवकी पूजा वा पात्रदान आदि न किया जा सके ऐसे कुलमें जन्म होता है। " मैं अपने अभिमानके दोषसे इस पृथ्वीपर अनंतवार कुयोनिमें उत्पन्न हुआ हूं " यही समझकर संसारके परिभ्रमणसे डरनेवाले भव्य जीवोंको अपने उच्चकुलका मद कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३६१ ॥ ३६२ ॥

दानादिधर्मकार्येणार्हदादिजन्मदायिनी । श्रेष्ठा जातिर्भवेल्लोके ज्ञात्वेति भवभीरुभिः ॥३६३॥ जात्या मदो न वै कार्यो मानवैर्दुष्टहेतुना । धर्मकार्यं सदा कार्यं श्रेष्ठा जातिर्भवेद्यतः ॥३६४॥

इस संसारमें भगवान अरहंत देवको जन्म देनेवाली श्रेष्ठ जाति पात्रदान आदि धर्मकार्योंसे ही उत्पन्न होती है। यही समझकर संसारसे भयभीत रहनेवाले भव्य जीवोंको अपने प्राण जानेपर भी किसी भी दुष्ट कारणसे जातिका मद नहीं करना चाहिये। तथा सदा काल धर्मकार्य ही करते रहना चाहिये जिससे कि सदा श्रेष्ठ जाति ही प्राप्त होती रहे ॥३६३॥३६४॥

मदादिदोषनाशाद्वा वीर्यान्तरायकर्मणः । क्षयाद्बलं भवेच्छ्रेष्ठं तपोध्यानादिसाधकम् ॥३६५॥ ज्ञात्वेति योजनीयं हि धर्मे जीवादिरक्षणे । हिंसने नैव जीवानां कार्यो बलमदोऽपि च ॥३६६॥

इस संसारमें तप और ध्यानादिक को सिद्ध करनेवाला श्रेष्ठ बल, मद आदि दोषोंके नाश होनेसे और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम होनेसे प्राप्त होता है। यही समझकर उस प्राप्त हुए बलको धर्मकार्योंमें अथवा जीवोंकी रक्षा करनेमें लगाना चाहिये। जीवोंकी हिंसा करने कभी नहीं लगाना चाहिये। तथा प्राप्त हुए बलका अभिमान भी कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३६५ ॥ ३६६ ॥

स्वात्मस्वादात्प्रभोर्ध्यानात्क्षमाशीलादियोगतः । ऋद्धिर्वाञ्छितदा स्याद्धि मिथ्यामदादिनाशतः ॥ ३६७ ॥ ज्ञात्वेति स्वात्मवाह्यो हि करोत्यृद्धेर्मदं मुनिः। धर्मज्ञः स्वात्मनिष्ठो न मददोषोत्करं विदन् ॥३६८॥

इस ससारमें जो विभूतियां वा ऋद्धियां प्राप्त होती हैं वे शुद्ध आत्माका स्वाद होनेसे भगवान जिनेन्द्रदेवका ध्यान करनेसे, क्षमा, शील आदिके पालन करनेसे, और मिथ्यामदोंके नाश करनेसे प्राप्त होती हैं। यही समझकर जो मुनि आत्मज्ञानसे रहित हैं वेही इन ऋद्धियों-का मद करते हैं। धर्मके स्वरूपको जाननेवाले, अपने आत्मा में तल्लीन रहनेवाले और मदके दोषोंको अच्छीतरह जाननेवाले सम्यग्दृष्टी पुरुष इन ऋद्धियोंका वा विभूतियोंका मद कभी नहीं करते ॥ ३६७ ॥ ३६८ ॥

अन्नौषधादिदानाद्वा मदादिदोषनाशतः । स्वर्मोक्षसाधकः कायो भवेद् ज्ञात्वेति सुन्दरः ॥३६९॥ ज्ञानध्यानतपोधर्मे योजनीयोऽतियत्नतः । वपुर्मदो न वै कार्यः कदापि भवभीरुभिः ॥३७०॥

इस संसारमें स्वर्गमोक्षको सिद्ध करनेवाला सुन्दर शरीर, अन्न औषध आदिके दान देनेसे और मद आदि दोषोंको नाश कर देनेसे प्राप्त होता है। यही समझकर संसारसे भय-भीत रहनेवाले भव्य जीवोंको यत्नपूर्वक अपना शरीर ज्ञान, ध्यान, तप और धर्ममें लगाना चाहिये। तथा प्राण जानेपरभी शरीरका मद कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३६९ ॥ ३७० ॥

इच्छारोधस्तपश्चेहं प्रोक्तं स्वर्मोक्षदायकैः । मोक्षेच्छापि जिनैःप्रोक्ता स्वर्मोक्षध्वंसिका ध्रुवं ॥ कथा तत्रान्यवस्तूनां केति बुद्ध्वा सुतरत्वतः । केषामपि मदः कार्यो न केवलं तपोमदः ॥३७२॥

स्वर्गमोक्षको देनेवाले भगवान जिनेन्द्रदेवने इच्छाका निरोध करना ही तपश्चरणका लक्षण बतलाया है । भगवान जिनेन्द्रदेवने मोक्षकी इच्छा करना भी स्वर्गमोक्षकी नाश करनेवाली बतलाई है । फिर भला अन्य वस्तुओंकी इच्छा करने की तो बात ही क्या है । इसप्रकार तपश्चरणके स्वरूपको अच्छीतरह समझकर किसीका भी मद नहीं करना चाहिये फिर भला तपश्चरणके मदकी तो बात ही क्या है । तपश्चरणका मद तो कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३७१ ॥ ३७२ ॥

इति श्रीमुनिराजकुंथुसागरविरचिते बोधामृतसारग्रंथे षोडशकारणभावना-दशधर्मपूर्णांगसम्यग्दर्शनवर्णनो नाम द्वितीयोऽधिकारः ।

इस प्रकार मुनिराज श्रीकुंथुसागरविरचितबोधामृतसार नामके ग्रंथमें सोलहकारण भावना दश धर्म और पूर्णांगसम्यग्दर्शनको वर्णन करनेवाला यह दूसरा अधिकार समाप्त हुआ।

अथ तृतीयोधिकारः ।

कीदृक् कार्यं गुरो ! लोकेऽनुप्रेक्षाचिन्तनं सदा ? प्रश्नः—हे गुरो ! इस संसारमे सदा काल अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन किस प्रकार करना चाहिए ?

सर्वे पुण्यवशाः सन्ति धनराज्यादिबांधवाः । यावत्पुण्यं समं तावत्तिष्ठन्ति बंधुभावतः ॥३७३॥ तस्य क्षयात्पलायन्ते खगा इव तरुस्थिताः । नित्यः स्वात्मैव बोद्धव्योऽन्येऽनित्याः सकला इति ॥३७४॥

इस संसारमे धन, राज्य, भाई बधु आदि सब पुण्यके अधीन हैं, जबतक पुण्य का उदय रहता है तबतक सब भाई बंधुके प्रेमसे बने रहते हैं, जब उस पुण्यका क्षय हो जाता है तब वृक्षपर बैठे हुए पक्षियोंके समान सब भाग जाते हैं । इसलिये भव्य जीवोंको विचार करना चाहिये कि इस ससारमें एक अपना आत्मा ही नित्य है बाकीके समस्त पदार्थ अनित्य हैं इस प्रकारके चिंतन करनेको अनित्यानुप्रेक्षा कहते हैं ॥ ३७३ ॥ ३७४ ॥

गजाश्वमंत्रतंत्रादिविद्यागदकलादिकाः । यक्षेंद्रचक्रवर्त्याद्या मृत्युकाले न केऽप्यमी ॥३७५॥ रक्षंति यदि चेत्पाति ज्ञात्वेति पुण्यमेव हि । स्वात्मनः स्वात्मना रक्षा कार्या स्वानन्दसाधकैः ॥३७६॥

इस ससारमें इस जीवका जब मरणसमय आता है तब हाथी, घोडा, मत्र तंत्र विद्या औषधि, कला, यक्ष, इन्द्र और चक्रवर्ती आदि कोई भी इस जीवकी रक्षा नहीं कर सकता। यदि कोई इस जीवकी रक्षा कर सकता है तो एक पुण्य ही कर सकता है। यही समझकर अपने आत्मजन्य आनंदामृतको सिद्ध करनेवाले भव्य जीवोंको अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माकी रक्षा करनी चाहिये इसको अशरणानुप्रेक्षा कहते हैं। ॥ २७५ ॥ २७६ ॥

मोहवशात्स्वसा बंधुर्देवो मृत्वा पशुर्भवेत् । राज्ञी मृत्वा भवेद्दासी पुत्रो मृत्वा भवेत्पिता ॥२७७॥ भार्या मृत्वा भवेन्माता शत्रुर्मृत्वा भवेत्सखा । मोहं त्यक्त्वैव बुद्ध्वेत्यात्मानं स्वात्मनि चिन्तयेत् ॥२७८॥

इस मोहनीय कर्मके उदयसे मोहित हुआ यह जीव बहिन की पर्याय छोडकर भाई हो जाता है, देव मरकर पशु होजाता है, रानी मरकर दासी हो जाती है, पुत्र मरकर पिता हो जाता है, स्त्री मरकर माता हो जाती है और शत्रु मरकर मित्र हो जाता है। इस संसारके ऐसे परिभ्रमणको समझकर भव्य जीवों को अपने मोहका त्याग कर देना चाहिये और अपने ही आत्मामें अपने आत्माका चिन्तन करना चाहिये इसको संसारानुप्रेक्षा कहते हैं ॥२७७॥७८॥

शुभाशुभवशाज्जीवो म्रियते जायते सदा । एको राजेति रंकोऽपि स्त्री नरोऽथ पशुर्द्विजः ॥२७९॥ कोऽपि कस्य सहायी न स्थितेऽपि बांधवे प्रिये। जायतेऽतो ध्रुवं लोके म्रियते याहशं हि यैः ॥२८०॥ तादृशं भुज्यते कर्मा-

न्यथा भवेत्कदापि न । कार्यं ज्ञात्वेति कर्तव्यं तत्स्वरक्षा भवेद्यतः ॥३८१॥

इस संसारमे यह जीव शुभ और अशुभ कर्मके निमित्तसे अकेला ही मरता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेलाही राजा होता है. अकेला ही रंक होजाता है, अकेला ही स्त्री होता है, अकेला ही पुरुष होता है, अकेलाही पशु होता है और अकेला ही द्विज होता है वा पक्षी होता है। यद्यपि प्यारे भाई बंधु आदि सब रहते हैं तथापि कोई किसीका सहायी नहीं रहता। इसपरसे यह निश्चय रूपसे जाना जाता है कि जो जीव जैसा शुभाशुभ कर्म करते हैं वैसा ही उन्हें अकेला भोगना पडता है। वह कभी बदल नहीं सकता। यही समझकर भव्य जीवोंको ऐसा कार्य करते रहना चाहिये जिससे इस अपने आत्मा की रक्षा सदा होती रहे। इसको फिर कभी भी न मरना पडे ॥३७९–३८१॥

पिता माता स्वसा बंधुः पुत्री पौत्री सखा सखी। पुत्रः पौत्रो गृहं भार्या पुरराज्यादि भूषणम् ॥३८२॥ एते सर्वेऽपि सन्त्यन्ये स्वात्मनस्तत्त्वतो यथा। पूर्वतः पाश्चिमः कार्याऽन्यो ज्ञात्वा न परे स्पृहा ॥३८३ ॥

वास्तवमे देखा जाय तो इस ससारमें माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्री, पोती, सखा, सखी, पुत्र, पौत्र, घर, स्त्री, पुर, राज्य और वस्त्रभूषण आदि समस्त पदार्थ इस आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं और ऐसे भिन्न हैं जैसे पूर्वसे पश्चिम सर्वथा भिन्न होती है। यही समझकर भव्य जीवोंको अपने आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें कभी इच्छा नहीं करनी चाहिये इसको अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते हैं ॥३८२॥३८३॥

मलमूत्रभृतो देहो रक्तमांसास्थिपूरितः । रजोवीर्यसमुत्पन्नो जातो घृणित-मार्गतः ॥३८४॥ एतादृशः शरीरस्य किं योग्यं स्नेहलालनम् । तपस्तप्त्वा च तत्प्राप्य साधयन्तु शिवं जनाः ॥३८५॥

यह शरीर मलमूत्रसे भरा हुआ है, हड्डी मांस और रुधिर से भरा हुआ है, रज वीर्यसे उत्पन्न हुआ है और घृणित मार्गसे प्रगट हुआ है। क्या ऐसे इस शरीरका स्नेहपूर्वक लालन पालन करना उचित है ? ऐसे शरीरको पाकर तो घोर तपश्चरण करना चाहिये और घोर तपश्चरण कर लोगोंको मोक्षकी सिद्धि कर लेनी चाहिये इसको अशुचित्वानुप्रेक्षा कहते हैं ॥३८४॥३८५॥

रागद्वेषैश्च मिथ्यात्वैः सदास्रवः कुकर्मणः । स्वर्मोक्षरोधको नित्यं भवेच्च भववर्द्धकः ॥३८६॥ त्यक्त्वा द्वेषादिमिथ्यात्वं ज्ञात्वेति तत्त्वतो जवात् । स्वात्मबुद्धिः सदा कार्या जिनधर्मे शिवप्रदे ॥३८७॥

इन संसारी जीवोंके राग द्वेष और मिथ्यात्वके कारण सदा अशुभ कर्मोंका आस्रव होता रहता है। यह आस्रव स्वर्ग मोक्षको रोकनेवाला है और सदाके लिये संसारके परिभ्रमणको बढानेवाला है अतएव भव्य जीवोंको बहुत ही शीघ्र आस्रवका यथार्थ स्वरूप समझ कर रागद्वेष और मिथ्यात्वका त्याग कर देना चाहिये तथा अपनी बुद्धि सदाकाल मोक्ष देनेवाले जिनधर्ममें लगाते रहनी चाहिये। इसको आस्रवानुप्रेक्षा कहते हैं ॥३८६॥३८७॥

आस्रवस्य निरोधश्च संवरो मोक्षदायकः। इच्छारोधस्तपोभिश्च क्षमाशां-त्यादियोगतः ३८८ भवेत्स्वानन्दपानाद्धि ज्ञात्वा चैवं जिनागमात्। त्यक्त्वा द्वेषादिमिथ्यात्वं स्वात्मानं चिन्तयेत्सदा ॥३८९॥

आस्रवका निरोध करना संवर है। यह संवर मोक्षको देनेवाला है तथा यह संवर इच्छाका निरोध करनेरूप तपश्चरणसे होता है, क्षमा धारण करने अथवा शांति वा उपशम परिणामोंसे होता है, और अपने आत्मजन्य आनन्दामृतका पान करनेसे भी होता है। जि-नागमसे इन सब बातोंको समझकर भव्य जीवोंको रागद्वेष और मिथ्यात्वका त्याग कर देना चाहिये और सदाकाल अपने शुद्ध आत्माका चिन्तन करते रहना चाहिये। इसको संवरानु-प्रेक्षा कहते हैं ॥ ३८८ ॥ ३८९ ॥

गुप्त्या समित्या तपसा धर्मचारित्रचिन्तनैः। रागद्वेषयुतो जीवो विशेषेण विशुध्यति ॥३९०॥ अग्निना शुध्यति स्वर्णं तथा ध्यानेन योगिनः। ज्ञात्वेति च्छेदनीयं हि कर्मजालं जनैर्जवात् ॥३९१॥

यह रागद्वेषसहित जीव भी गुप्ति, समिति, तपश्चरण, धर्म, चारित्र और ध्यान से विशेष शुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार अग्निसे सुवर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार योगी लोग भी ध्यानसे ही शुद्ध होते हैं। यही समझकर भव्यजीवोंको बहुत शीघ्र अपना कर्मरूपी जाल छिन्न भिन्न कर नष्ट कर देना चाहिये। इसको निर्जरानुप्रेक्षा कहते हैं ॥ ३९० ॥ ३९१ ॥

लोके पापवशाज्जीवा दुःखं श्वभ्रगतौ परम् । तिर्यग्गतौ च संजातं देवे नरभवे तथा ॥३९२॥ भुंजते दीनभावेन ज्ञात्वा त्यक्त्वा शुभं क्रमात् । जिनधर्मे स्थितिः कार्या शुद्धात्मन्येव मोक्षदे ॥३९३॥

इस लोकमें भरे हुए समस्त संसारी जीव पापकर्मके उदयसे दीनता धारण कर नरकादिकोंमें परम दुःख भोगते हैं, तिर्यंचगतिमें महादुःख भोगते हैं तथा देव और मनुष्य गतिमें महादुःख भोगते हैं । यही समझकर भव्य जीवोंको अनुक्रमसे समस्त पापोंका त्याग कर देना चाहिये और जिनधर्ममें अपने आत्माको स्थिर कर देना चाहिये, अथवा मोक्ष प्राप्त करानेवाले अपने शुद्ध आत्मामें अपने आत्माको स्थिर कर देना चाहिये । इसको लोकानुप्रेक्षा कहते हैं ॥ ३९२ ॥ ३९३ ॥

प्राप्य स्वात्मोपलब्धिं च भवक्लेशादिनाशिनीम् । गतप्राणोऽपि कार्यो न प्रमादो भववर्द्धकः ॥३९४॥ स्वात्मबाह्यं कृतं कार्यं बहुवारं भवप्रदम् ज्ञात्वेति मोक्षदं कार्यं कर्तव्यं शांतिदायकम् ॥३९५॥

अपने शुद्ध आत्मा की उपलब्धि संसारके समस्त क्लेशोंको नाश करने वाली है उसको पाकर अपने प्राण जानेपर भी संसारके जन्म मरणको बढाने वाला प्रमाद कभी नहीं करना चाहिए । इस संसार में इस जीवने अपने आत्मस्वरूपसे रहित और संसारको बढाने वाले कार्य अनेक वार किये हैं । यही समझकर अब मोक्ष देनेवाले और सर्वथा शांति उत्पन्न करने

वाले कार्य इस जीवको सदा करते रहना चाहिये। इसको बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कहते हैं ॥ ॥ २९४–२९५ ॥

प्रमादः प्राप्य कार्यो न धर्मं स्वर्मोक्षदायकम्। धर्मप्रसादाज्जीवेन् लभ्यते वाञ्छितं फलम् ॥२९६॥ स्वानन्दस्वादतः शीघ्रं स्वराज्यं लभतेऽचलम्। ज्ञात्वेत्यर्हत्प्रभोर्धर्मः कार्यः स्वर्मोक्षहेतवे ॥२९७॥

स्वर्गमोक्ष देनेवाले इस जैनधर्मको पाकर कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि यह जीव इस धर्मके प्रसादसे ही इच्छानुसार फलको प्राप्त होता है। अपने आत्मजन्य आनन्दामृत—रसका स्वाद लेनेसे शीघ्र ही मोक्ष रूप अचल स्वराज्य की प्राप्ति हो जाती है। यही समझ कर भव्यजीवो को स्वर्गमोक्ष प्राप्त करने के लिए भगवान अरहंत देवका कहा हुआ जिनधर्म अवश्य धारण करना चाहिये इसको धर्मानुप्रेक्षा कहते हैं ॥ २९६ ॥ २०७ ॥

परवस्तु परित्यज्य ध्यातव्यं स्वात्मवस्तु हि। सारांश इति बोद्धव्यः स्वरसरसिकैर्जनैः ॥२९८॥

इन सब बारह अनुप्रेक्षाओंके चिंतन करने का वा कहनेका मुख्य सारांश यही है कि जो भव्य जीव अपने आत्मजन्य आनंद रसके रसिक हैं उन्हें परपदार्थोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और अपने शुद्ध आत्माका ध्यान करते रहना चाहिए ॥ २९८ ॥

सप्ततत्त्वानि लोकेऽस्मिन् सन्ति कानि जगद्गुरो! प्रश्नः—हे जगद्गुरो! इस संसारमें

सात तत्व कौन २ हैं ?

चिन्मात्रमूर्तिः परमार्थदृष्ट्या , स्वभावकर्ता निजसौख्यभोक्ता ।
सर्वोऽपि जीवो व्यवहारदृष्ट्या, कर्तास्ति भोक्तापि शुभाशुभस्य ॥३९९॥
संयोगतः पुद्गलकर्मणोऽयं, भवे महादुःखमये निमग्नः ।
शुद्धस्वभावो हृदि धारणीयः, ज्ञात्वेति भव्यैर्निजराज्यहेतोः ॥४०० ॥

परमार्थदृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह जीव चिन्मात्र मूर्ति वा चैतन्यस्वभावरूप है. अपने निज स्वभाव का कर्ता है, और अपने आत्मजन्य सुखका भोक्ता है। यदि व्यवहार दृष्टिसे देखा जाय तो संसारी समस्त जीव शुभा शुभ कर्मोंके कर्ता हैं और उनके फलोंके भोक्ता हैं। पुद्गल कर्मोंके संयोगसे ये संसारी जीव अनेक महा दुःखमय इस संसार में निमग्न हो रहे हैं। यही समझकर भव्य जीवोंको अपना शुद्ध आत्म–स्वरूप–स्वराज्य प्राप्त करनेके लिये अपने हृदयमें अपने शुद्ध आत्माका स्वरूप चिन्तन करना चाहिये ॥ ३९९ ॥ ४०० ॥

धर्मोऽप्यधर्मो गगनं च कालो–, जीवोऽप्यमूर्तो रहितः क्रियाभिः ।
गतिस्थितिस्थानविवर्तनादि, स्तेषां स्वभावो भवति स्वभावात् ॥४०१॥
प्रोक्तः सुमूर्त्तः खलु पुद्गलश्च, स्पर्शादियुक्तः सहितः क्रियाभिः ।
ज्ञात्वेति भव्यैर्हृदि भावनीय, मजीवतत्त्वं हि निजात्मबाह्यम् ॥४०२॥

अब अजीव तत्त्वको कहते हैं। धर्म अधर्म आकाश और काल ये चारों अजीव द्रव्य अमूर्त हैं और क्रिया रहित है। इनमेंसे धर्मद्रव्यका स्वभाव जीव पुद्गलोंके गमन करनेमें सहायता देना है, अधर्म द्रव्यका स्वभाव जीव पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायता देना है, आकाशका स्वभाव समस्त द्रव्योंको अवकाश देना है। इन और कालद्रव्यका स्वभाव द्रव्योंके परिवर्तन में सहायता देना है। इन द्रव्योंका यह स्वभाव स्वाभाविक है। इनके शिवाय अजीव तत्त्व एक पुद्गल और है। वह मूर्त्त है–स्पर्श रस गंध वर्णसहित है तथा क्रियासहित है इसप्रकार अजीव तत्त्वके पांच भेद हैं। इन सबका स्वरूप समझकर भव्य जीवोंको अपने हृदय में इस अजीव तत्त्वको अपने आत्मस्वरूप से सर्वथा भिन्न समझना चाहिये, तथा आत्मासे भिन्न ही चिन्तन करना चाहिये ॥ ४०१ ॥ ४०२ ॥

कर्मास्रवो यैश्च शुभाशुभैर्वा, मिथ्यात्वरागादिकषायभावैः ।
भावास्रवः स्यात्खलु तन्निमित्ताद्, द्रव्यास्रवो ज्ञानसुखादिहर्ता ॥४०३॥
प्रोक्तं स्वबुध्यास्रवतत्त्वमेवं, यथास्थितं भो व्यवहारदृष्ट्या ।
निजात्मबाह्यो द्विविधास्रवोऽपि, ज्ञातव्य एवं परमार्थदृष्ट्या ॥४०४॥

जिन मिथ्यात्व राग आदि कषायरूप शुभ अशुभ परिणामोंसे कर्मोंका आस्रव होता है उसको भावास्रव कहते है। उस भावास्रवके निमित्तसे जो कर्म आते हैं उन कर्मोंके आनेको द्रव्यास्रव कहते हैं। यह द्रव्यास्रव ज्ञान सुख आदि आत्माके गुणोंको नष्ट करनेवाला है।

इस प्रकार आस्रवका जैसा स्वरूप है वही मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार व्यवहारदृष्टिसे निरूपण किया है। परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो ये दोनों ही प्रकारके आस्रव अपने शुद्ध आत्मासे सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार इनका स्वरूप समझना चाहिये ॥ ४०२ ॥ ४०४ ॥

भावेन येनात्मन एव यश्च, भवत्यवश्यं खलु कर्मबन्धः।
स भावबंधः सुखशांतिहर्ता, सर्वात्मदेशे खलु कर्मबन्धः ॥४०५॥
स द्रव्यबंधो भवदुःखदो वा, प्रोक्तो यथावद् व्यवहारदृष्ट्या।
निजात्मबाह्ये द्विविधोऽपि बंधो, ज्ञातव्य एवं परमार्थदृष्ट्या ॥४०६॥

आत्माके जिन परिणामोंसे कर्मोंका बंध अवश्य होता है उन परिणामोंको भावबंध कहते हैं यह भावबंध सुख और शान्ति को हरण करनेवाला है तथा आत्माके समस्त प्रदेशोंमें जो कर्मोंका बंधन होजाता है उसको द्रव्यबंध कहते हैं। यह द्रव्यबंध भी संसारके समस्त दुःखोंको देनेवाला है। इस प्रकार दृष्टिसे दोनों प्रकारके बंधका स्वरूप कहा है। यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो दोनों प्रकारका बंध अपने आत्मासे सर्वथा भिन्न है। ऐसा भव्य जीवोंको समझना चाहिये ॥ ४०५ ॥ ४०६ ॥

भावैर्हि कर्मागमनस्य येश्चा, रुन्नो हि मार्गश्च निरुध्यते सः।
भावस्वरूपः खलु संवरो हि, वा द्रव्यकर्मापि निरुध्यते यतः ॥४०७॥
द्रव्यस्वरूपो भुवि संवरः स, प्रोक्तो यथावद् व्यवहारदृष्ट्या।

। ,आत्मरूपो युगसंवरोऽपि, ज्ञातव्य एवं परमार्थदृष्ट्या ॥४०८॥

आत्माके जिन परिणामोंसे कर्मोंके आनेका मार्ग रुकजाता है उसको भावसवर कहते हैं तथा उन परिणामोसे जो द्रव्यकर्मोंका रुक जाना है उसको द्रव्यसवर कहते हैं। यह भावसवर और द्रव्यसंवरका स्वरूप व्यवहार दृष्टिसे जैसा है वैसा ही कहा है। यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो दोनों प्रकारका सवर अपने आत्मस्वरूप ही है ऐसा समझना चाहिये ॥ ४०७ ॥ ४०८ ॥

यैरात्मनः शुद्धतरैश्च भावै, र्भवेद्वश्यं खलु निर्जराद्या।
भावस्वरूपा खलु निर्जरा सा, नश्यन्ति कर्माणि यदा तपोभिः ॥४०९॥
द्रव्यस्वरूपा ननु निर्जरा सा, प्रोक्ता यथावद् व्यवहारदृष्ट्या।
निजात्मरूपा युगनिर्जरापि, ज्ञेया त्रिलोके परमार्थदृष्ट्या ॥४१०॥

आत्माके जिन शुद्ध परिणामोंसे कर्मोंकी निर्जरा होती है उन परिणामोंको भावनिर्जरा कहते हैं। तथा तपश्चरणके द्वारा जो कर्म नष्ट होते हैं उन कर्मोंके नाश होनेको द्रव्यनिर्जरा कहते हैं। इसप्रकार इन दोनो निर्जरा ओंका यथार्थ स्वरूप व्यवहार दृष्टिसे कहा गया है। यदि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो तीनों लोकोंमें दोनों प्रकारकी निर्जरा अपने आत्मस्वरूप ही हैं ॥ ४०९ ॥ ४१० ॥

भावैश्च यैरात्मन एव शुद्धैः, प्रणश्यते चाखिलकर्मबन्धः।

स भावमोक्षः सुखशांतिरूपः, यदात्मनो यः सकलप्रदेशात् ॥४११॥
पृथग्भवेद्धाखिलकर्मबन्धः, स द्रव्यमोक्षो व्यवहारदृष्टया ।
निजात्मरूपो द्विविधोऽपि मोक्षः, सुखप्रदोऽयं परमार्थदृष्टया ॥४१२॥

आत्माके जिन शुभ परिणामों से समस्त कर्मोंका बंध नष्ट होजाता है उसको भावमोक्ष कहते हैं। यह भावमोक्ष सुख और शांतिस्वरूप है। तथा जब आत्माके समस्त प्रदेशोंसे समस्त कर्मबंध अलग हो जाता है उसको द्रव्यमोक्ष कहते हैं। यह सब कथन व्यवहारदृष्टिसे समझना चाहिये। परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो अनंत सुख देनेवाला दोनों प्रकारका मोक्ष अपने आत्मस्वरूप ही है ॥ ३११ ॥ ३१२ ॥

व्यसनानां गुरो ! ब्रूहि लक्षणानि च सांप्रतम् ? प्रश्नः—हे गुरो ! अब कृपाकर व्यसनोंके लक्षण कहिये।

स्थानं सकलपापानां चिन्तानामपि चापदाम् । व्याधीनामपि दुःखानां मूर्खाणां चिह्नमेव च ॥४१३॥ सर्वदुष्कर्मणां स्वामी द्यूत एवास्ति तत्त्वतः ।
त्याज्यो ज्ञात्वेति स द्यूतः सर्वथा स्वात्मतत्परैः ॥४१४॥

उत्तर:—पहला व्यसन जुआ खेलना है। यह जुआ खेलना समस्त पापोंका स्थान है, समस्त चिन्ताओं का और समस्त आपत्तियोंका स्थान है, समस्त व्याधियोंका स्थान है, समस्त दुःखोंका स्थान है, मूर्खता का चिन्ह है और समस्त पापकर्मोंका स्वामी है। वास्तवमें

यह जूआ ऐसा ही है। यही समझकर अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले भव्य पुरुषोंको इस जूआका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ ४१३ ॥ ४१४ ॥

सद्बुद्धिर्मांसलुब्धानां दयाधर्मः पलायते। पुण्यपापविचारोऽपि न्यायनीतिर्विनश्यति ॥४१५॥ मूर्खता वर्द्धतेऽशांतिर्ज्ञात्वेति मांसभक्षणम्। स्पर्शनं वापि धर्मज्ञैर्न कार्यं धर्मवत्सलैः ॥४१६॥

दूसरा व्यसन मांसभक्षण है। जो मनुष्य मांस भक्षणके लोलुपी हो जाते हैं उनकी सद्बुद्धि नष्ट हो जाती है, दयाधर्म दूर भाग जाता है, पुण्यपापका विचार नष्ट हो जाता है, न्याय और नीति नष्ट हो जाती है, मूर्खता बढ जाती है और अशांति बढ जाती है यही समझकर धर्ममें प्रेम रखनेवाले और धर्मके स्वरूपको जाननेवाले भव्य जीवोंको मांसका भक्षण कभी नहीं करना चाहिये तथा उसका स्पर्श भी कभी नहीं करना चाहिये ॥४१५॥४१६॥

क्षमा कृपा दमः शांतिर्लज्जापि मद्यपायिनाम्। कुलजातिपवित्रत्वं स्वात्मबुद्धिर्विनश्यति ॥४१७॥ मलिनत्वमविवेकोऽनात्मता परिवर्द्धते। ज्ञात्वेति मदिरापानं न कार्यं भवभीरुभिः ॥४१८॥

तीसरा व्यसन मद्यपान है। जो जीव मद्यपान करते हैं उनकी क्षमा, कृपा, इंद्रियदमन, शांति, लज्जा, कुल, जाति, पवित्रता और स्वात्मबुद्धि आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं, तथा मलिनता [illegible] और अनात्मता [आत्मविचारका अभाव] बढ [illegible] यही समझकर

संसारमें भयभीत रहनेवाले भव्य जीवोंको यह मद्यपान कभी नहीं करना चाहिये ॥४१७॥ ॥४१८॥

क्रूरताखेटलुब्धानां मूर्खताऽन्यायताखिला । निर्दयत्वं पशुत्वं च पापक्रिया प्रवर्द्धते ॥४१९॥ विवेको न्यायतास्तिक्ये दयाधर्मो विनश्यति । कार्यं ज्ञात्वेति नाखेटं कदापि स्वात्मतत्परैः ॥४२०॥

चौथा व्यसन शिकार खेलना है। जो मनुष्य शिकार खेलनेके लोलुपी होते हैं उनकी क्रूरता बढ जाती है, सब प्रकारकी मूर्खता और अन्यायता बढ जाती है तथा निर्दयता पशुपना और सब पापक्रियाएं बढ जाती हैं। इसी प्रकार उनका विवेक, न्यायपना, आस्तिक्य और दयाधर्म सब नष्ट हो जाता है। यही समझकर अपने आत्मामें तल्लीन रहनेवाले भव्य जीवोंको यह शिकार खेलनेका पाप कभी नहीं करना चाहिये ॥४१९॥४२०॥

को वेश्यासेविनां बुद्धिः कुलं जातिर्बलं वपुः । मान्यताचारमार्गोऽपि शुभशीलं प्रणश्यति ॥४२१॥ दारिद्र्यं मूर्खता व्याधिरपात्रता प्रवर्द्धते । न वेश्यासेवनं कार्यं ज्ञात्वेति धर्मवत्सलैः ॥४२२॥

पांचवा व्यसन वेश्यासेवन है। इस संसारमें जो मनुष्य वेश्यासेवन करते हैं, उनकी बुद्धि, कुल, जाति, बल, शरीर, मान्यता, आचारमार्ग, और शुभ शील सब नष्ट हो जाते हैं, तथा दरिद्रता, मूर्खता, व्याधियां और अपात्रता आदि दुर्गुण सब बढ जाते हैं। यही समझ-

कर धर्ममें प्रेम रखनेवाले भव्य जीवोंको वेश्यासेवन कभी नहीं करना चाहिये ॥४२१–४२२॥

स्वपरज्ञानहीना हि स्तेयं कुर्वन्ति तत्त्वतः । अतः पदे पदे तेषां निंदा वा ताडनं भवेत् ॥४२३॥ स्वपरज्ञानिनः स्तेयं न कुर्वन्ति कदाचन । ज्ञात्वेति धर्मतत्त्वज्ञैः स्तेयं कार्यं कदापि न ॥४२४॥

छठा व्यसन चोरी करना है। जो पुरुष स्वपरज्ञान रहित हैं वास्तवमें वे ही चोरी करते हैं और इसीलिये पद पद पर उनकी निंदा होती है अथवा ताडन होती है । जो पुरुष अपने आत्माका तथा पर पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानते हैं वे कभी चोरी नहीं करते । यही समझ-कर धर्म और तत्त्वोंके स्वरूप को जाननेवाले भव्य जीवोंको कभी चोरी नहीं करनी चाहिये ॥ ४२३ ॥ ४२४ ॥

तिरस्कारापमानादिः परस्त्रीसेविनां सदा । सूतकं पातकं पापं कुलजातिच्युतिर्भवेत् ॥४२५॥ वर्द्धते वैरक्लेशोऽपि ज्ञात्वेति श्रावका जनाः । परस्त्रीसेवनं त्यक्त्वा भवेयुर्धर्मतत्पराः ॥४२६॥

सातवां व्यसन परस्त्रीसेवन है। जो पुरुष परस्त्री सेवन करते हैं उनका स्थान स्थान पर तिरस्कार वा अपमान होता है। उनके सूतक, पातक, पाप, कुलकी भ्रष्टता, जातिकी भ्रष्टता, वैर, और क्लेश आदि सदा बढते रहते हैं । यही समझकर श्रावकलोगोंको सदाके लिये परस्त्रीका त्याग कर देना चाहिये और सदाकाल धर्ममें तत्पर रहना चाहिये ॥४२५॥२६॥

पंच पापानि कान्येव तत्त्यागाद्वा व्रतानि च ? प्रश्नः—हे गुरो ! पांच पाप कौन २ हैं उनके त्याग करनेसे व्रत कहलाते हैं?

भवन्ति दुःखिनो जीवा म्रियन्ते प्राणनाशतः । ज्ञात्वेति सर्वजीवानां योनिस्थानानि यत्नतः ॥४२७॥ केषामपि च जीवानां प्रमादान्नैव हिंसनम् । स्यादहिंसाव्रतं पूतं कौ स्वपरात्मरक्षकम् ॥४२८॥

उत्तरः—ये संसारी प्राणी प्राणोंके नाश होनेसे अत्यंत दुःखी होते हैं और मर जाते हैं। अत एव भव्य जीवोंको सबसे पहले यत्नपूर्वक जीवोंको योनिस्थानोंको जानना चाहिये और फिर अपने प्रमादसे किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिए । इसको अहिंसाव्रत कहते हैं। यह अहिंसाव्रत पवित्र है और अपने आत्माकी तथा अन्य सब जीवोंकी रक्षा करनेवाला है ॥ ४२७ ॥ ४२८ ॥

त्यक्त्वा मिथ्यावचो निंद्यं स्वपरात्मविघातकम् । क्लेशवैरक्रियाकारि नितांतभ्रांतिभीतिदम् ॥४२९॥ यथार्थं शांतिदं मिष्टं वैरक्लेशादिनाशकम् । सापेक्षमीदृशं वाक्यं तत्सत्यं यत्र भाष्यते ॥४३०॥

इस संसारमें मिथ्यावचन अत्यंत निंद्य कहलाते हैं, ये मिथ्यावचन अपने आत्माका घात करनेवाले हैं और अन्य जीवोंका घात करनेवाले हैं, क्लेश और वैर बढाने वाली क्रियाओंको करनेवाले हैं, अत्यंत भ्रांति और भय को उत्पन्न करनेवाले हैं। ऐसे मिथ्यावचनोंको

त्याग कर जहांपर यथार्थ, शांति उत्पन्न करनेवाले, मिष्ट, वैरक्लेशको नाश करनेवाले और अपेक्षासहित वचन बोले जाते हैं उसको सत्यव्रत कहते हैं यह दूसरा व्रत है ॥ ४२९–४३० ॥

अदत्तं पतितं त्यक्तं ग्रामे मार्गे वनादिके । स्थापितं विस्मृतं गुप्तं स्वरसास्वादकैर्जनैः ॥४३१॥ परद्रव्यं स्वकीयं वा यदि चेत्संशयास्पदम् । न ग्राह्यं श्रावकैर्नित्यं तदचौर्यव्रतं भुवि ॥४३२॥

जो दूसरेका द्रव्य किसी गांवमें, मार्गमें वा वन पर्वत पर गिर गया है, वा कोई छोड गया है वा कोई रख गया है, वा भूलगया है वा छिपा गया है ऐसे परद्रव्यको विना दिये अपने आत्मजन्य आनदरसका पान करनेवाले भव्य श्रावकों को कभी नहीं लेना चाहिये । यदि कोई द्रव्य अपना ही हो परंतु यह मेरा है वा नहीं इस प्रकारका जिसमें संदेह उत्पन्न हो जाय ऐसा द्रव्य भी विना दिया हुआ श्रावकोंको ग्रहण नहीं करना चाहिये । ऐसे इस व्रतको इस संसारमें अचौर्यव्रत कहते हैं ॥ ४३१–४३२ ॥

सम्यग्ज्ञानमयैर्जीवैर्यदि स्वस्त्री न वर्ज्यते । त्याज्यास्तथापि सर्वाश्च त्रियोगैः परयोषितः ॥४३३॥ वैराग्यभावतस्त्यक्त्वा योषिन्मात्रं निजात्मनि । ये रमन्ते व्रतं ब्रह्म पूर्णं तेषां प्रपद्यते ॥४३४॥

ये समस्त जीव सम्यग्ज्ञानमय हैं । ऐसे इन जीवोंसे यदि अपनी स्त्रीका त्याग नहीं किया जाता है तो भी उनको मन वचन कायसे समस्त परस्त्रियोंका त्याग अवश्य कर देना

चाहिये। इसको ब्रह्मचर्यव्रत कहते हैं। इसके सिवाय जो पुरुष वैराग्य कर और स्त्रीमात्रका त्याग कर अपने आत्मामें लीन हो जाता है उनके यह ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण रीतिसे प्रगट हो जाता है ॥ ४३३ ॥ ४३४ ॥

बाह्यान्तरं संगं यस्त्यक्त्वा क्लेशादिवर्द्धकम्। स्वाध्यायादौ रतस्तस्य संगत्यागव्रतं भवेत् ॥४३५॥ परचतुष्टयं पश्चात्त्यक्त्वा संतापकारकम्। आनन्दमंदिरं सोऽयं यस्तिष्ठेत्स्वचतुष्टये ॥४३६॥

जो मनुष्य क्लेश और दुःखोंको देनेवाले अंतरंग और बाह्य परिग्रहों का त्याग कर स्वाध्यायादिकमें लीन होता है उसके परिग्रहत्याग नामका व्रत कहलाता है। तदनंतर संताप उत्पन्न करनेवाले परचतुष्टयका त्यागकर जो अपने स्वचतुष्टयमें लीन रहता है उसे ही इस संसारमें आनंदका घर समझना चाहिये ॥४३५॥४३६॥

पापव्यसनयोर्मध्ये को भेदोऽस्ति गुरो वद? प्रश्नः—हे गुरो! अब कृपाकर कहिये कि पाप और व्यसनमें क्या भेद है?

येनात्माधमकार्येण विनायं नैव तिष्ठति। तदेव व्यसनं प्रोक्तं वैरक्लेशादिवर्द्धकम् ॥४३७॥ स्वपदायोग्यकार्यं हि तीव्रकर्मोदये सति। कदाचित्क्रियते यद्धि प्रोक्तं पापं तदेव च ॥४३८॥

उत्तरः—यह आत्मा जिस नीचकार्यके विना न रह सके उस वैर क्लेश आदि बढा

नेवाले कार्यको व्यसन कहते हैं। तथा अपने तीव्र कर्मोंके उदयसे जब यह आत्मा अपने पदस्थके अयोग्य कार्यको कर बैठता है तब उसको पाप कहते हैं ॥४३७॥४३८॥

इति श्रीमुनिराजकुंथुसागरविरचिते बोधामृतसारग्रंथे अनुप्रेक्षा-
सप्ततत्त्वव्यसनपापवर्णनो नाम तृतीयोऽधिकारः।

इस प्रकार मुनिराज श्रीकुंथुसागरविरचितबोधामृतसार नामके ग्रंथमें अनुप्रेक्षा
सप्ततत्त्व, व्यसन व पापको वर्णन करनेवाला यह तीसरा अधिकार समाप्त हुआ।

अथ चतुर्थोऽधिकारः।

श्रावकः पाक्षिकः कोऽसौ गुरो ! मे वद सांप्रतम् ? प्रश्नः—हे गुरो अब मेरे लिये कहिये कि पाक्षिक श्रावक किसको कहते हैं ?

विनष्टघातिकर्मत्वाल्लोकालोकादिबोधनात्। स्वप्रदेशे स्थिरत्वाद्धि तृप्तत्वात्स्वचतुष्टये ॥४३९॥ अर्हन्नेव भवेद्देवो यो वा स्वमोक्षदायकः। श्रद्धेति निश्चयो यस्य धर्मज्ञः स च पाक्षिकः ॥४४०॥

उत्तर—भगवान अरहंत देवने अपने समस्त घातिकर्मोंका नाश करदिया है, लोक अलोक का तथा समस्त पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न कर लिया है, वे अपने आत्मप्रदेशोंमें

ही सदा स्थिर रहते हैं और अपने ही चतुष्टय में सदा तृप्त रहते हैं इसी लिये वे अरहंत भगवान देव कहलाते हैं, तथा वे ही भगवान स्वर्ग मोक्षको देनेवाले हैं जिस किसी पुरुषके इस प्रकारकी श्रद्धा वा निश्चय है उस धर्मात्मा पुरुषको पाक्षिक श्रावक कहते हैं ॥४३९॥४४०॥

ज्ञानध्यानक्षमादक्षः स्वानन्दास्वादकः सदा । तरणे तारणे शक्तो निरारंभोऽपरिग्रहः ॥४४१॥ वंद्यः पूज्यःसदा सेव्यो निर्ग्रंथो गुरुरेव हि । श्रद्धेति निश्चयो यस्य धर्मज्ञः स च पाक्षिकः ॥४४२॥

जो गुरु ज्ञान ध्यान और क्षमा धारण करनेमें चतुर हैं, अपने आत्मजन्य आनंद रसका स्वाद लेनेवाले हैं इस संसारमें स्वयं पार होने और अन्य जीवोंको पार करनेमें समर्थ हैं जो आरंभरहित हैं और परिग्रहरहित हैं वे निर्ग्रंथ गुरु ही सदा पूजा वंदना करने योग्य हैं और सेवा करने योग्य हैं। जिस किसी पुरुषको इस प्रकारकी श्रद्धा वा निश्चय है उस धर्मात्मा पुरुषको पाक्षिक श्रावक कहते हैं ॥४४१॥४४२॥

नयप्रमाणासिद्धं च सापेक्षकथनाश्रितम्। पदार्थानां यथावद्धि द्योतकं भ्रान्तिनाशकम् ॥४४३॥ शास्त्रं जिनोक्तमेव च ग्राह्यं वंद्यं सुखप्रदम् । श्रद्धेति निश्चयो यस्य धर्मज्ञः स च पाक्षिकः ॥४४४॥

जो नय और प्रमाणोंसे सिद्ध पदार्थोंका कथन करते हैं जो अपेक्षापूर्वक तत्त्वोंका कथन

करते हैं, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको दिखलाते हैं और भ्रांति वा संदेह को नष्ट करते हैं ऐसे भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्र ही पठन पाठन करने योग्य हैं, वंदना करने योग्य हैं और सुख देनेवाले हैं ऐसी श्रद्धा और निश्चय जिस किसी पुरुषके होता है वही धर्मात्मा पुरुष पाक्षिक श्रावक कहलाता है ॥ ४४३ ॥ ४४४ ॥

यस्य चित्ते दयाधर्मो वर्द्धते स्वात्मपोषकः । मैत्रीप्रमोदभावोऽपि वैरक्लेशादिनाशकः ॥४४५॥ यश्च तीव्रोदयादेव ह्यप्रत्याख्यानकर्मणः । त्यक्तुं कान्यपि वस्तूनि न शक्नोति तथापि यः ॥४४६॥ क्षयोपशमयोगाच्चानन्तानुबंधिकर्मणः । ग्रहीतुमपि स्वपरज्ञानतो नेच्छति स्वयम् ॥४४७॥ उच्चकुलादिसंस्कारादहिंसाधर्मपक्षतः । स्वभावात्पंचपापानि न कुर्याद् व्यसनादिकम् ॥४४८॥ शास्त्रोक्तविधिना येन धृतं यज्ञोपवीतकम् । पाक्षिकः स च विज्ञेयो मद्यमांसादिदूरगः ॥४४९॥

जिसके हृदयमे अपने शुद्ध आत्मा को पुष्ट करनेवाला दयाधर्म बढ रहा है, तथा वैर और क्लेशका नाश करनेवाला मैत्रीभाव और प्रमोदभाव भी बढ रहा है, जो अप्रत्याख्यानावरण कर्मके तीव्र उदयसे किसी भी पदार्थ के त्याग करनेमे समर्थ नहीं है तथापि अनन्तानुबंधि कर्मके क्षयोपशम होनेसे और स्वपरज्ञान प्रगट हो जानेसे उन परपदार्थोंको ग्रहण करने की स्वय इच्छा नहीं करता। जो उच्च कुलके संस्कार होनेसे तथा अहिंसा धर्मकी पक्ष होनेसे

स्वभावसे ही पांचों पापोंको नहीं करता और व्यसनोंका सेवन करता है तथा शास्त्रोक्तविधि से जिसने यज्ञोपवीत धारण कर रक्खा है और मद्य मांसादिकसे सदा दूर रहता है उसको पाक्षिक श्रावक समझना चाहिये ॥४४५—४४९॥

मुक्त्वैनं पाक्षिकं शेषाः श्राद्धाः सर्वेऽपि नैष्ठिकाः। अथ तेषां क्रमाच्चिह्नं यथावत्कथयाम्यहम् ॥४५०॥

पाक्षिकको छोडकर बाकीके सब श्रावक नैष्ठिक कहलाते हैं। अब आगे अनुक्रमसे उन नैष्ठिक श्रावकोंके यथार्थ चिन्ह कहते हैं ॥ ४५० ॥

क्षयोपशमयोगाद्धि योऽप्रत्याख्यानकर्मणः। निर्दोषान्पालयेन्मूलगुणान् पापभयेन यः ॥४५१॥ पंचविंशतिदोषान्यस्त्यक्त्वा सम्यक्त्वघातकान्। देवशास्त्रगुरुश्रद्धां करोति व्यसनोज्झितः ॥४५२॥ पंचाणुव्रतपूर्त्यर्थं द्वितीयां प्रतिमां तथा। ग्रहीतुं यतते नित्यं त्यक्तुं क्रोधादिकं जवात् ॥४५३॥ परमानन्दपानार्थं स्वर्मोक्षहेतवे तथा। पूर्वोक्तधर्मयुक्तो यः पूतो दर्शनिको नरः ॥४५४॥

जो मनुष्य अप्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशम होनेसे पापोंके डरसे समस्त मूलगुणोंको अतिचाररहित पालन करता है, सम्यग्दर्शनको घात करनेवाले पच्चीसों दोषोंको त्यागकर

तथा देवशास्त्रगुरु में अटल श्रद्धान रखता है। इसके सिवाय पांचों अणुव्रतोंको पूर्ण करने के लिये दूसरी प्रतिमाको पूर्ण करने का प्रयत्न करता है तथा क्रोधादिको छोडनेका शीघ्र प्रयत्न करता ह और स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करने के लिये आत्मजन्य परमानन्दको पीने का प्रयत्न करता हैं। इस प्रकार ऊपर कहे हुए धर्मोंको जो पालन करता है उस पवित्र मनुष्यको पहिली दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाला कहते हैं ॥४५१–४५४॥

भवेयुरेवं ज्ञात्वेति मुनिवत्स्वात्मरक्षकाः । दर्शनप्रतिमायाश्च धारकाः प्रतिपालकाः ॥ ४४५ ॥

यही समझकर भव्यजीवोंको यह दर्शनप्रतिमा धारण करनी चाहिये, पालन करनी चाहिये और मुनियोंके समान अपने आत्माकी रक्षा करनेवाले वन जाना चाहिये ॥४५५॥

यः पंचाणुव्रतं धीरो गृहीत्वा स्वात्मसाधकम् । रक्षति स्वात्मवन्नित्यं निरतिचारपूर्वकम् ॥४५६॥ गुणव्रतं तथा धृत्वाणुव्रतवर्द्धकं सदा। चतुःशिक्षाव्रतं धृत्वा यन्मुनिव्रताशिक्षकम् ॥४५७॥ भेदविज्ञानशास्त्रं यः करे धृत्वैव तिष्ठति । द्वितीयप्रतिमाधारी श्रावकः स च धार्मिकः ॥४५८॥

जो धीर वीर पुरुष अपने शुद्ध आत्माको सिद्ध करनेवाला पांचों अणुव्रतोंको धारण करता है तथा अपने आत्माके समान सदाकाल अतिचाररहित उनकी रक्षा करता है, इनके सिवाय जो अणुव्रतोंको वढाने वाले गुणव्रतों को सदाके लिये धारण करता है. जो मुनियों

के व्रतोंकी शिक्षा देते हैं ऐसे चारों शिक्षाव्रतोंको धारण करता है और जो अपने हाथ में सदा भेदविज्ञानरूप शास्त्रको धारण करता रहता है। उस धार्मिक श्रावक को दुसरी व्रत-प्रतिमा को धारण करनेवाला कहते हैं ॥४५६—४५८॥

अणुव्रतानि कानीह गुणशिक्षाव्रतानि च। के वा तेषामतीचारा भो गुरो वद साम्प्रतम् ?॥ प्रश्न—हे गुरो ! अब यह बतलाइये कि इस संसारमें पाच अणुव्रत कौन २ है, तीन गुणव्रत कौन २ है और चार शिक्षाव्रत कौन २ है और, तथा उन सब व्रतोंके अतिचार कौन २ हैं।

जीवानां द्रव्यभावानां प्राणानां द्वेषरागतः। व्यपरोपणमेव स्याद्धिंसा स्वात्मविनाशिनी ॥४५९॥ ज्ञात्वेति प्राणिनां कार्यं न प्राणव्यपरोपणम्। तदहिंसाव्रतं पूतं भवेद् वाञ्छितदं क्रमात् ॥४६०॥

उत्तर—किसी रागसे वा द्वेषसे जीवोंके द्रव्यप्राण वा भावप्राणोंका व्यपरोपण करना वियोग करना हिंसा कहलाती है। यह हिंसा अपने ही आत्माका नाश करनेवाली है। यही समझकर भव्य जीवोंको प्राणियोंके प्राणोंका वियोग कभी नहीं करना चाहिये। इसीको पवित्र अहिंसाव्रत कहते हैं। यह अहिंसाव्रत अनुक्रमसे इच्छानुसार स्वर्गमोक्षके फल देनेवाला है॥ ४५९ ॥ ४६० ॥

वधबन्धादिकश्छेदोऽतिभारोपणं तथा। अन्नपाननिरोधोऽपि न कार्यो धर्मवत्सलैः ॥४६१॥

धर्ममें प्रेम रखनेवाले भव्य पुरुषोंको वध अर्थात् लकडी थप्पडसे मारना, बंध अर्थात् किसी जीवको रस्सी संकलसे बांधना, छेद अर्थात् नाक कान वा अन्य अंगोंको छेदना, अतिभारारोपण अर्थात् अधिक बोझा लादना और अन्नपान निरोध अर्थात् समयपर खाने पीनेको न देना वा भोजन पान रोक देना आदि इस अहिंसाव्रतके अतिचारोंका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। भावार्थ—ये अहिंसाणुव्रतके अतिचार हैं इन का भी त्याग कर देना अत्यावश्यक है ॥ ४६० ॥ ४६१ ॥

यत्रासदभिधानं हि प्रोच्यते च प्रमादतः। तदेवेहानृतं प्रोक्तं सर्वपापप्रदं जवात् ॥४६२॥ ज्ञात्वेति धार्मिकैर्भव्यैः पुण्यधर्मप्रवृद्धये। वाच्यं सदभिधानं हि तत्सत्यव्रतमुच्यते ॥४६३॥

इस संसारमें जहांपर प्रमादके वश होकर असत् वा मिथ्याभाषण किया जाता है उसको असत्य भाषण कहते है। यह असत्य भाषण बहुत शीघ्र समस्त पापोंको उत्पन्न करने वाला है। यही समझकर धर्मात्मा भव्य जीवोंको अपने पुण्य और धर्मकी वृद्धि करनेके लिये सदा सत्यभाषण ही करना चाहिये। इस सत्यभाषण करनेको सत्याणुव्रत कहते हैं ॥ ४६२ ॥ ४६३ ॥

एवं मिथ्योपदेशं च रहोऽभ्याख्यानकं तथा। कूटलेखाक्रियादिश्च न्यासापहार एव च ॥४६४॥ साकारमंत्रभेदोऽपि न कार्यो धर्मवत्सलैः। सत्यव्रता-

तिचाराश्च त्याज्याः स्वात्मप्रशान्तये ॥४६५॥

इसी प्रकार किसी को मिथ्या उपदेश भी नहीं देना चाहिये, रहोऽभ्याख्यान अर्थात् एकांतमें कहीहुई क्रियाओं को प्रगट नहीं करना चाहिये, झूटा लेख नहीं लिखना चाहिये, न्यासापहार अर्थात् किसी की धरोहर को मारना नहीं चाहिये और साकार मंत्रभेद अर्थात् मुख आदि की आकृतिसे किसी के हृदयकी बात जानकर भी उसको प्रगट नहीं करना चाहिये। इस प्रकार मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद ये पांच सत्यव्रतके अतिचार हैं। अपने आत्माको अत्यंत शांत करनेके लिये धर्ममें प्रेम रखनेवाले भव्य जीवोंको इन सब अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ ४६४ ॥ ४६५ ॥

स्तेयं प्रमत्तयोगाद्वादत्तादानं ध्वं भवेत्। हिंसाकरं यतो लोके प्राणेभ्योऽपि धनं प्रियम् ॥४६६॥ ज्ञात्वेति धार्मिकेनैव कार्यं स्तेयं भवप्रदम्। तदचौर्यव्रतं पूतं पालनीयं प्रयत्नतः ॥४६७॥

प्रमादके निमित्तसे विना दिये हुए दूसरोंके पदार्थोंको लेलेना चोरी है। चोरी करना हिंसा ही करना है, क्योंकि इस संसारमें धन प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होता है। यही समझकर धार्मिक पुरुषोंको जन्म मरणरूप संसारको बढाने वाली चोरी कभी नहीं करनी चाहिये। इस चोरी न करनेको पवित्र अचौर्यव्रत कहते हैं। यह अचौर्यव्रत प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये ॥ ४६६—४६७ ॥

त्याज्यश्चौरप्रयोगश्च चौरार्थादानमेव च । राज्यविरुद्धकार्यं च प्रतिरूपाक्रिया तथा ॥४६८॥ नैव हीनाधिकः कार्यो मानोन्मानो भवप्रदः । स्वान्यशांत्यर्थिभिर्भव्यैर्व्रतादिपूर्णहेतवे ॥ ४६९ ॥

चोरीका प्रयोग बताना, चोरी के पदार्थ अपने घरमें रखना या लेलेना, राज्यके विरुद्ध कार्य करना, अधिक मूल्यके पदार्थोंमे कम मूल्यके पदार्थ मिलाकर वेचना और तौलने वा नापने के साधनोंको छोटे वडे रखना ये पांच अचौर्यव्रतके अतिचार हैं। ये अतिचार संसारको वढाने वाले हैं इसलिये अपनी आत्मामें और अन्य जीवोंमे शांति चाहनेवाले भव्य जीवोंको अपना अचौर्यव्रत पूर्ण करनेके लिये इन अतिचारोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ ४६८—४६९ ॥

मनसा वपुषा वाचा परस्त्री यत्र वर्ज्यते। चतुर्थं तद्व्रतं ज्ञेयं ब्रह्माणुव्रतसंज्ञकम् ॥ ४७० ॥ मैथुनं तु महत्पापं वहुजीवविघातकं । तत्त्याज्यं दूरतो भव्यैश्चिदानन्देषु तन्मयैः ॥ ४७१ ॥

जहांपर मन वचन कायसे परस्त्रीका त्याग किया जाता है उसको ब्रह्मचर्याणुव्रत नामका चौथा व्रत कहते हैं। मैथुनसेवन करना महापाप है और अनेक जीवोंकी हिंसा करनेवाला है, अत एव आत्मासे उत्पन्न हुए चिदानंदमें तल्लीन रहनेवाले भव्य जीवोंको इस मैथुन सेवन करनेका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥ ४७०—४७१ ॥

परिणीतेत्वरिकाया गमनं भववर्द्धकं । तथैवापरिणीताया अन्यस्योपशमस्त-था ॥४७२॥ न कार्यं कामतीव्राभिनिवेशं पापकारणं । स्वानंदस्वादकैः कार्याऽनंगक्रीडा कदापि न ॥४७३॥

किसी विवाही हुई कुलटा स्त्रीके यहां आना जाना, बिना विवाही हुई कुलटा स्त्रीके यहां आना जाना, दूसरे के पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना, कामसेवनके तीव्रभाव रखना और अनंगक्रीडा करना ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार हैं। पांचोंही अतिचार संसारको बढा-नेवाले हैं और पाप उत्पन्न करनेवाले हैं अतएव अपने आत्मजन्य आनंदका स्वाद लेनेवाले भव्य जीवोंको इन सबका त्याग देना चाहिये। इन अतिचारों को कभी नहीं लगने देना चाहिये ॥ ४७२ ॥ ४७३ ॥

प्रमत्तयोगतो यत्र धनधान्यादि गृह्यते। परिग्रहो ध्रुवं तत्र भवेत्स्वमोक्ष-नाशकः ॥४७४॥ ज्ञात्वेति धार्मिकैर्भव्यैर्न ग्राह्यं परवस्तु च। स्ववस्तु-परिमाणं च कर्तव्यं मोक्षहेतवे ॥ ४७५ ॥

जहांपर प्रमादके निमित्तसे धन धान्यादिक का ग्रहण किया जाता है वहांपर उसको परिग्रह कहते हैं। यह परिग्रह ही स्वर्गमोक्षका नाश करनेवाला है। यही समझकर धर्मात्मा भव्य जीवोंको मोक्ष प्राप्त करने के लिये पर पदार्थोंका ग्रहण तो कभी करना ही नहीं चाहिये और जो अपने पदार्थ हैं उनका परिमाण नियत कर लेना चाहिये। इसी को परिग्रह परि-माणाणुव्रत कहते हैं ॥४७४॥४७५॥

क्षेत्रवास्तुहिरण्यस्य दासीदासधनस्य च । सुवर्णधान्यकुप्यादेः प्रमाणातिक्रमस्तथा ॥ ४७६ ॥ न कार्यः क्रोधलोभोऽपि संसारमूलवर्द्धकः । स्वानन्दस्वादकैर्भव्यैर्व्रतानां परिपालकैः ॥ ४७७ ॥

क्षेत्र, वास्तु, (खेत व घर) हिरण्य (चांदी) सुवर्ण, धन धान्य, दासी दास, और (वर्तन वस्त्रादिक) ये सब बाह्य परिग्रह कहलाते हैं । इनके प्रमाणका उल्लघन करना परिग्रह-परिमाणके अतिचार कहलाते हैं । क्रोध लोभ भी ससारके जन्ममरणको बढानेवाले हैं । अत एव अपने आत्मजन्य आनदका स्वाद लेनेवाले और व्रतोंको पालन करनेवाले भव्य जीवोंको इन सब अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये तथा क्रोध लोभका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ ४७६—४७७ ॥

निरोधार्थं च पापानां नानादुःखविधायिनां । नदीपर्वतदेशैश्च मर्यादीकृत्य भूतले ॥ ४७८ ॥ प्रमाणं दशधा दिक्षु कार्यमामृत्यु गेहिभिः । संसारभोगकामार्थं न गच्छामि ततो वहिः ॥४७९ ॥ इति संकल्प एव स्याद्दिग्व्रतं शांतिदायकं । प्रोक्तं जिनेंद्रदेवेन सर्वपापप्रणाशकम् ॥ ४८० ॥

अनेक प्रकारके दु ख देनेवाले पापोको रोकने के लिये श्रावकोंको अपने मरणपर्यंत इसी पृथ्वीपरके नदी पर्वत और देशोंके द्वारा मर्यादा नियत कर दशों दिशाओंका परिमाण नियत कर लेना चाहिये तथा इस मर्यादाके वाहर ससार भोग और कामादिक के लिये कभी नहीं

जाऊंगा ऐसा संकल्प कर लेना चाहिये। इसी संकल्पको वा दशों दिशाओंके परिमाण करनेको दिग्व्रत कहते हैं। यह दिग्व्रत अत्यंत शांति देनेवाला है, समस्त पापोंको नाश करनेवाला है और भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ४७८—४८० ॥

न चोर्ध्वातिक्रमः कार्यो नैवाधोऽतिक्रमस्तथा । तिर्यग्व्यतिक्रमो नैव क्षेत्रवृद्धिर्न दुःखदा ॥ ४८१ ॥ नैवं विस्मरणं कार्यं मर्यादायाः सुगेहिभिः । इति पंचातिचाराश्च त्याज्याः सकलधार्मिकैः ॥ ४८२ ॥

समस्त धर्मात्मा श्रावकोंको ऊर्ध्व दिशा की मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये, अधोदिशाकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये, तिरछी और की आठों दिशाओंकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये, मर्यादा किये हुए क्षेत्रको बढाना नहीं चाहिये और तिर्यग् दिशाओंका उल्लंघन करना, क्षेत्रकी मर्यादा बढालेना और मर्यादा भूल जाना ये पांच दिग्व्रतके अतिचार हैं। धर्मात्मा श्रावकोंको इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥४८१–४८२॥

पक्षमासादिपर्यन्तं गृहग्रामवनैः सदा । मर्यादीकृत्य देशस्य परिमाणं सुगेहिभिः ॥ ४८३ ॥ कार्यं प्रतिदिनं तत्तु व्रतं देशावकाशिकं । सर्वपापविनाशार्थमहिंसाव्रतवृद्धये ॥ ४८४ ॥

श्रावकोंको पक्ष महिना आदि काल की मर्यादा नियत कर घर गांव वगीचा आदिके द्वारा देशकी मर्यादा नियत कर प्रतिदिन उन देशका परिमाण नियत कर लेना चाहिये।

भावार्थ–दिग्व्रतमे जो जन्मभरके लिये मर्यादा नियत की है उसमेंसे प्रतिदिन घटाकर थोडी रखनी चाहिये । इसको देशावकाशिक व्रत कहते हैं यह व्रत समस्त पापोंको नाश करनेके लिये और अहिंसाव्रत की वृद्धि करनेके लिये किया जाता है ॥ ४८३–४८४ ॥

आनयनाद्बाहिर्देशात्प्रेष्यप्रयोगतस्तथा । शब्दानुपाततो ज्ञेया रूपानुपाततोऽपि च ॥ ४८५ ॥ पूद्गलादिप्रयोगाद्वातिचाराः पंच दुःखदाः । श्रावकैः परिहर्तव्या ज्ञात्वेति धर्मधारकैः ॥ ४८६ ॥

मर्यादा किये हुए देशके बाहरसे किसी को बुलाना वा कोई चीज मंगाना, किसी को भेजना वा कोई पदार्थ भेजना, मर्यादा बाहर अपने शब्दके द्वारा कोई संकेत करना, अपना रूप दिखाकर कोई संकेत करना और पुद्गल वा कंकड, पत्थर फेंककर कोई संकेत करना ये पांच देशावकाशिकव्रतके अतिचार है । धर्मको धारण करनेवाले श्रावकोंको इनका स्वरूप समझकर इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ४८५ ॥ ४८६ ॥

पापाशिक्षामपध्यानं हिंसादानं च दुःश्रुतिः । प्रमादाचरणं कार्यं श्रावकैस्तु कदाऽपि न ॥ ४८७ ॥ धर्मविरुद्धं यत्कार्यं कुलजातिविनाशकं । न कार्यं तत्तु विज्ञेयं तृतीयं च गुणव्रतम् ॥ ४८८ ॥

श्रावक लोगोंको पापरूप शिक्षा वा उपदेश कभी नहीं देना चाहिये, अपध्यान अर्थात् किसीके लिये बुरा चिन्तन नहीं करना चाहिये, हिंसा करनेके साधनोंको देना नहीं चाहिये,

पाप उत्पन्न करनेवाले शास्त्रोंको सुनना नहीं चाहिये और विना प्रयोजन पृथ्वी खोदना, पानी फैलाना, अग्नि जलाना, वनस्पति तोडना आदि जीवोंको सतानेवाले कार्य नहीं करना चाहिये। इसीप्रकार जो धर्मविरुद्ध कार्य हैं अथवा कुल जातिको नष्ट करनेवाले कार्य हैं वे भी कभी नहीं करने चाहिये। इसको अनर्थदंडविरति नामका तीसरा गुणव्रत कहते हैं ॥ ४८७—४८८ ॥

निंद्यं कन्दर्पकौत्कुच्यं मौखर्यं पापवर्द्धकं। उपयोगोऽविचार्यैव भोगोपभोगवस्तुनः ॥ ४८९ ॥ अप्रयोजनभूतस्य संग्रहकरणं तथा । ज्ञात्वा पंचातिचाराश्च त्याज्या एवं प्रयत्नतः ॥ ४९० ॥

हंसीसे मिले हुए भंड वचनोंको कंदर्प कहते हैं भंड वचनोंके साथ शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है ये दोनों ही क्रियाएं अत्यंत निंदनीय हैं। विना प्रयोजन बहुत बोलनेको मौखर्य कहते हैं। मौखर्य भी पाप बढानेवाला है। इस प्रकार तीन तो ये, तथा भोगोपभोग के पदार्थोंका विना विचार किये उपयोग करना और अपने काममें न आनेवाले बहुतसे पदार्थोंका संग्रह करना ये पांच अनर्थदंडव्रत के अतिचार हैं इनको समझकर प्रयत्न पूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये ॥ ४८९ ॥ ४९० ॥

मनो वचश्च कायं च सम्यग्निरुध्य यत्नतः। प्रियाऽप्रिये पदार्थे च स्वात्मबाह्ये विनाशिनि ॥४९१॥ त्रिकाले समतां धृत्वा कर्तव्यं स्वात्मचिंतनं।

जपोऽनाहतमंत्रस्य ज्ञेयं सामायिकं व्रतम् ॥ ४९२ ॥

मन वचन कायको प्रयत्न पूर्वक अच्छीतरह रोक कर तथा आत्मासे सर्वथा भिन्न और अवश्य नाश होनेवाले ऐसे प्रिय वा अप्रिय पदार्थोंमें समता धारण कर तीनों समय अपने आत्माका चिन्तन करना चाहिये अथवा अनाहत मंत्रका (पंच नमस्कार मंत्रका) जप करना चाहिये इनको सामायिक व्रत कहते हैं ॥ ४९१ ॥ ४९२ ॥

मनोदुष्प्रणिधानं च संसारक्लेशवर्द्धकं। वचोदुष्प्रणिधानं चाशांतिदुःखप्रदायकम् ॥ ४९३ ॥ कायदुष्प्रणिधानं च विस्मरणमनादरः। एते पंचातिचाराश्च त्याज्या ज्ञात्वेति धार्मिकैः ॥ ४९४ ॥

सामायिक करते समय अपने मनको किसी बुरे चिन्तनमें लगाना संसारके क्लेशोंको बढानेवाला है, वचनको अशुभ कार्यमें लगाना अशांति और दुःख देनेवाला है, इसीप्रकार कायको अशुभक्रिया में लगाना, सामायिकका अनादर करना वा सामायिक के समय का वा किसी क्रियाका अनादर करना ये पांच सामायिकके अतिचार कहलाते हैं। धर्मात्मा भव्य पुरुषोंको इनका स्वरूप समझकर इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ४९३ ॥ ४९४ ॥

गृहस्थानामहोरात्रं धर्मध्यानं न सम्भवेत्। विचार्यैव सदाष्टम्यां चतुर्दश्यां चतुर्विधम् ॥ ४९५ ॥ त्यक्त्वाहारं कषायादिं गृहारंभादिकं तथा। उपवासः प्रकर्तव्यः। स्वात्मचिंतनपूर्वकः ॥ ४९६ ॥

गृहस्थोंके रात दिन धर्मध्यानका होना असंभव है। यही समझकर उन को अष्टमी और चतुर्दशीके दिन चारों प्रकारके आहारका त्याग कर तथा कषाय और घर संबंधी आरंभ परिग्रह आदिका त्याग कर सदाकाल (प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी का) उपवास धारण करना चाहिये। और उस दिन अपने शुद्ध आत्माका चिन्तन करते रहना चाहिये। इसको प्रोषधोपवासव्रत कहते हैं ॥ ४९५ ॥ ४९६ ॥

विनावलोकनेनैव विना सम्मार्जनेन च। शास्त्रोपकरणादीनां ग्रहणं स्थापनं तथा ॥ ४९७ ॥ मलमूत्रादिकानां वा यत्र तत्र विसर्जनं। सर्वेषां संस्तरादीनां स्थापनं वा प्रमादतः ॥ ४९८ ॥ प्रमादवर्द्धकं ज्ञेयं विस्मरणं ह्यनादरः। अतिचारा इमे त्याज्याः श्रावकैर्धर्मतत्परैः ॥ ४९९ ॥

विना देखे और विना कोमल पीछी वस्त्र आदिसे शोधे शास्त्र वा पूजाके उपकरणोंको ग्रहण करना वा स्थापन करना, विना देखे शोधे मलमूत्र कफ आदिको चाहे जहां छोड देना, सोने बैठनेकी चटाई आदिको प्रमाद पूर्वक विना देखे शोधे रखना, प्रमादको बढानेवाला विस्मरण करना, अर्थात् उपवास वा उस दिनके कर्तव्यको भूल जाना तथा उपवास वा पर्वके दिनका अनादर करना ये पांच प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार हैं। धर्ममें तत्पर रहनेवाले श्रावकोंको इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ४९८ ॥ ४९९ ॥

कषायविषयादीनां नाशार्थं मोहवैरिणः। वस्त्रान्नपानभार्यायाः गंधमाल्या

दिवस्तुनः ॥५००॥ प्रतिदिनं प्रमाणं च कार्यं वाहनगीतयोः । स्वानन्दस्वादकैर्भव्यैः स्वरसरसिकैस्तथा ॥५०१॥

जो श्रावक अपने आत्मजन्य आनंदका स्वाद लेते रहते हैं, और आत्मजन्य आनंद रस के रसिक हैं उनको अपने कषाय और विषयोंका नाश करनेके लिए तथा मोहरूपी शत्रुको नाश करनेके लिए तथा भोजन, पान, वस्त्र, स्त्री, गंध, माला, सवारी, गीत नृत्य आदि भोगोपभोगके पदार्थोंका प्रतिदिन प्रमाण कर लेना चाहिए । इसको भोगोपभोग परिमाण व्रत कहते हैं ॥ ५०० ॥ ५०१ ॥

सचित्तस्तस्य सम्बंधः सम्मिश्राभिषवस्तथा । दुष्पक्काहार एवाऽपि दुःखदो व्रतनाशकः ॥५०२॥ प्रोक्ताः पंचातिचाराश्च संसारपरिवर्द्धकाः । ज्ञात्वेति वस्तुतो भव्यैस्त्यक्तव्या मोक्षहेतवे ॥५०३॥

सचित्त पदार्थोंको काममें लाना, सचित्तसे संबंध रखनेवाले पदार्थोंको काममें लाना, सचित्त मिले हुए पदार्थोंको काममें लाना, पौष्टिक आहारका सेवन करना और कच्चे अथवा आवश्यकतासे अधिक पके हुए पदार्थोंको सेवन करना ये पांच भोगोपभोग परिमाणके अतिचार हैं । ये अतिचार दुःख देनेवाले हैं, व्रतों को नाश करनेवाले हैं और संसारको बढानेवाले हैं । अतएव भव्य जीवोंको उचित है कि इनका वास्तविक स्वरूप समझकर मोक्ष प्राप्त करनेके लिए इनका सर्वथा त्याग कर देवें । ॥५०२॥५०३॥

आत्मरताय भव्याय गृहादिवर्जिताय च । रागद्वेषविमुक्ताय स्वपरहित-हेतवे ॥ ५०४ ॥ भक्त्या त्रिविधपात्राय दानं देयं चतुर्विधं । अतिथिसंवि-भागाख्यं व्रतं प्रोक्तं सुखप्रदम् ॥ ५०५ ॥

इस संसारमें उत्तम मध्यम जघन्य के भेदसे पात्र तीन प्रकारके हैं। ये सब पात्र अपने आत्मामें लीन रहने वाले हैं, भव्य हैं, घर आरंभ परिग्रह आदिसे रहित हैं। इनको अपना और उन त्यागी व्रतियोंका कल्याण करनेके लिए भक्तिपूर्वक चारों प्रकारका दान देना चाहिए। इस को अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं। यह अतिथिसंविभाग व्रत अनेक सुखोंको देनेवाला है ॥ ४०४ ॥ ५०५ ॥

निंद्यः सचित्तनिक्षेपो वा सचित्तापिधानकं । अपरव्यपदेशश्च कालातिक्रम एव च ॥५०६॥ मात्सर्यं दुःखदात्रैतेऽतिचाराः पंचदुःखदाः । सन्तीति परिहर्तव्या ज्ञात्वा स्वमोक्षवांछकैः ॥५०७॥

इस अतिथिसंविभाग व्रतके भी पांच अतिचार हैं पहला निंदनीय सचित्त निक्षेप अर्थात् मुनिको देने योग्य आहार को सचित्त पदार्थपर रख देना है। दूसरा अतिचार सचित्त पदार्थसे ढक देना है, तीसरा अतिचार किसी दूसरेको आहार देनेके लिए कहना अथवा न देने की नियत से किसी अपने पदार्थ को दूसरे का बतला देना चौथा अतिचार है। आहार का समय बीत जाने पर दान देनेके लिए खडे होना है और अनेक दुःख और चिंताओंको देने वाला

पांचवा अतिचार अन्य दाताओंके साथ ईर्षा करना है। इस प्रकार दुःख देनेवाले ये पांच अतिचार हैं। स्वर्ग मोक्षकी इच्छा करनेवाले श्रावकोंको इनका स्वरूप समझकर इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥ ५०६ ॥ ५०७ ॥

मांसादिदर्शनात् ज्ञेयः स्पर्शनादस्थिचर्मणः। हिंसाकरं वचः श्रुत्वा भुक्त्वा वा त्यक्तवस्तुनः ॥५०८॥ मनोग्लानिर्यदा जाता अंतरायस्तदा तदा। त्याज्यश्च सर्व आहारो व्रतपूर्णैः सुगेहिभिः ॥ ५०९ ॥

मासादिक पदार्थोंके दृष्टिगोचर होने से हड्डी, चमडा आदिके स्पर्श होनेसे हिंसा करने वाले वचनोंको सुनकरके त्यागी हुई वस्तुको खाकरके और जब मन में ग्लानि आजाय तब भोजनके अंतराय माने जाते हैं। उस समय समस्त व्रतोंसे सुशोभित रहनेवाले श्रावकोंको सब तरहके आहारका त्याग कर देना चाहिए ॥ ५०८ ॥ ५०९ ॥

भगवंस्त्वत्प्रसादेन व्रतानां लक्षणानि च। तथातिचाराः सर्वेषां ज्ञाताः स्वात्मविशुद्धये ॥ सद्यः शेषप्रतिमानां लक्षणानि निरूपय। धृत्वा ताः श्रावकः पश्चाद् मुनिर्भूत्वा शिवं व्रजेत् ॥

प्रश्नः—हे भगवन् आपके प्रसादसे अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिए समस्त व्रतोंके लक्षण और अतिचार जान लिए अब कृपाकर बाकीकी प्रतिमाओंका लक्षण कहिये। जिन्हे धारणकर ग्रह श्रावक अंत में मुनि होकर मोक्षमें जा विराजमान होता है।

रागद्वेषं परित्यज्य समो भूत्वा प्रियाऽप्रिये । पदार्थे स्वात्मबाह्ये च दुःखदे स्वात्मनाशिनि ॥ द्वात्रिंशद्दोषमेवाऽपि त्यक्त्वा संसारदं तथा । मग्ना भवंति शुद्धेऽस्मिन् स्वात्मनि सौख्यदायिनि । तद्वा सामायिकं प्रोक्तं करणीयं त्रिकालके । तृतीया प्रतिमा ज्ञेया श्रावकस्य महात्मनः ॥५१२॥

उत्तरः—अब तीसरी प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं। जो पुरुष रागद्वेषको छोडकर तथा आत्मा से भिन्न और आत्माको नाश करनेवाले और दुःख देनेवाले प्रिय अप्रिय समस्त पदार्थोंमें समता धारण कर और जन्ममरण रूप संसारको बढानेवाले बत्तीस दोषोंका त्यागकर सुख देनेवाले अपने शुद्ध आत्मामें लीन होते हैं, उसको सामायिक कहते है। यह सामायिक महात्मा श्रावकोंको तीनों समय करना चाहिए। इसको तीसरी प्रतिमा कहते हैं ॥ ५१०—५१२ ॥

सर्वारम्भं परित्यज्याहारं चतुर्विधं तथा । कषायविषयान् त्यक्त्वा संसार-दुःखदायिनः ॥५१३॥ अष्टम्यां च चतुर्दश्यां कर्तव्यो निश्चयेन च । यथाशक्त्युपवासश्च कामदो मोक्षहेतवे ॥५१४॥ चिदानन्दपदे शुद्धे स्वात्मनि सुखदे सदा । उपवेशनमेव स्यादुपवासश्च मोक्षदः ॥५१५॥

अब चौथी प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं, चौथी प्रतिमा धारण करनेवाले श्रावकको अष्टमी और चतुर्दशी के दिन सब तरहके आरंभोंका त्याग कर तथा चारों प्रकारके आहारों

का त्याग कर और संसारके महादुःख देनेवाले कषाय तथा विषयोंका त्याग कर मोक्ष प्राप्त करनेके लिए अपनी शक्तिके अनुसार इच्छानुसार फल देनेवाला उपवास अवश्य करना चाहिए। अथवा शुद्ध चिदानंद स्वरूप और सुख देनेवाले अपने आत्मामें तल्लीन रहना मोक्ष देनेवाला उपवास कहलाता है। यह भी श्रावकको धारण करना चाहिए। इसको प्रोषधोपवास प्रतिमा कहते हैं ॥५१३-५१४-५१५॥

फलमूलादिकानां चापक्वानां ह्यनलादिभिः। न कार्यं भक्षणं भव्यैर्दयाधर्मप्रवर्द्धकैः ॥५१६॥ निजापरात्मशान्त्यर्थं पंचाक्षरोधहेतवे। स्वर्मोक्षवाञ्छकैर्भव्यैः स्वरसरसिकैः सदा ॥५१७॥

जो पुरुष स्वर्ग मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य हैं, दयाधर्मको बढानेवाले हैं और आत्मजन्य आनंदरसके रसिक हैं उनको पचेंद्रियोंका निरोध करनेके लिए, और अपनी आत्माकी तथा अन्य समस्त जीवोंकी शान्ति प्राप्त करनेके लिए अग्नि आदिके द्वारा नहीं पके हुए फल पत्र मूल आदिको कभी भक्षण नहीं करना चाहिए। इसको सचित्तत्याग नामकी पाचवी प्रतिमा कहते हैं ॥५१६-५१७॥

मनोवचनकायैश्च कृतकारितसम्मतैः। दिवसे मैथुनं त्याज्यं दुःखदं निशि भोजनम् ॥५१८॥ शान्तिवैराग्यवृध्यर्थं स्वात्मचिंतनमेव च। व्रतं स्वर्मोक्षदं स्याद्धि रात्रिभोजनवर्जनम् ॥५१९॥

छठी प्रतिमा धारण करनेवालोंको मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोद से दिनमें मैथुनसेवन करनेका त्याग कर देना चाहिए और महादुःख देनेवाला रात्रिभोजनका त्याग कर देना चाहिए। तथा शांति और वैराग्यको बढानेके लिए अपने आत्माका चिन्तन करना चाहिए। इसको स्वर्गमोक्ष देनेवाला रात्रिभोजन त्याग नामका व्रत कहते हैं। इसको पालन करना छठी प्रतिमा है ॥५१८–५१९॥

समस्तयोषिन्मात्रं च त्यक्त्वा वाक्कायचेतसा। तदतिचारमेवाऽपि संसारपरिवर्द्धकम् ॥५२०॥ चिदानन्दमये शुद्धे परमात्मनि सौख्यदे। स्वात्मबाह्यजनासाध्ये रत्नत्रयमये पदे ॥५२१॥ नित्यं निवेशनार्थं च स्वरसस्वादहेतवे। यतते यः स एवास्ति ब्रह्मचारी दयापरः ॥५२२॥

जो पुरुष मन वचन काय से समस्त स्त्रीमात्रका त्याग कर देता है और संसारको बढानेवाले उनके समस्त अतिचारोंको भी त्याग कर देता है तथा जो अपने आत्मजन्य आनंदरसका स्वाद लेने के लिये शुद्ध रत्नत्रय से सुशोभित, आत्मज्ञानरहित मनुष्योंके द्वारा प्राप्त होने अयोग्य, चिदानंदमय और सुख देनेवाले अत्यंत शुद्ध परमात्ममें लीन होनेका सदा प्रयत्न करता है उसको दयालु ब्रह्मचारी कहते हैं। यह ब्रह्मचर्य नामकी सातवीं प्रतिमा कहलाती है ॥५२२॥५२३॥

मस्यासिकृषिवाणिज्यं शिल्पसेवादिकं तथा। सर्वारम्भं परित्यज्य पापभीते-

दयापरः ॥५२३॥ स्वाध्यायं वा शुभध्यानं करोति स्वात्मचिंतनं । आरंभ-त्यागो विज्ञेयः पालनीयः सुगेहिभिः ॥२४॥

जो दयालु श्रावक पापोंके डरसे असि, मसि, कृषि शिल्प, सेवा, वाणिज्य आदि समस्त आरंभोंका त्याग कर स्वाध्याय करता है, शुभ ध्यान करता है वा अपने आत्मा का चिन्तन करता है उसके इस व्रतको आरंभत्याग कहते हैं । श्रेष्ठ श्रावकोंको इसका सदा पालन करते रहना चाहिये । यह आठवीं प्रतिमाका स्वरूप है ॥ ५२३ ॥ ५२४ ॥

वस्त्रपात्रैर्विना सर्वं परिग्रहं भवप्रदं । मोहादिकं तथा त्यक्त्वा वैरक्लेशादि-वर्द्धकम् ॥५२५॥ व्रतोपवासं मौनं च कुर्वन् ध्यानं तपो जपं । स्वात्मानं चिंतयन् शुद्धं स्वपदे यश्च तिष्ठति ॥२६॥ स्वर्मोक्षवाञ्छकः शुद्धः संसा-रसुखदूरगः । श्रावकः स च विज्ञेयः परिग्रहविवर्जितः ॥५२७॥

जो श्रावक वस्त्र और वर्तनों के विना जन्ममरणरूप संसारको बढानेवाले समस्त परिग्रहोंका त्याग कर देता है, तथा वैर क्लेश आदि बढानेवाले मोह वा राग द्वेष आदिका त्याग कर देता है और व्रत उपवास करता हुआ मौन धारण करता हुआ ध्यान, तप वा जप करता हुआ तथा अपने शुद्ध आत्माका चिंतन करता हुआ अपने शुद्ध आत्मामे लीन रहता है । इसके सिवाय जो स्वर्गमोक्षकी इच्छा करता रहता है, सब तरहसे शुद्ध रहता है, और संसारिक सुखोंसे दूर रहता है उसको परिग्रहविरत श्रावक कहते हैं । यह नौवी प्रतिमाका स्वरूप है । ॥५२५–५२७

संसारवर्द्धके निंद्ये दुःखे पापप्रदेऽशुभे । विवाहारम्भकार्यादौ व्याधिचिंताविवर्द्धके ॥५२८॥ निःसारे धर्मशून्ये वाऽनुमतिर्नास्ति यस्य च । संसारनाशकोऽयं सोऽनुमतिविरतो भवेत् ॥५२९॥

ये विवाह खेती आदि आरंभके कार्य सांसारिक है, निंद्य है, दुःख और पाप उत्पन्न करनेवाले हैं, अशुभ हैं, व्याधि चिंता आदि को बढानेवाले हैं, साररहित हैं और धर्मरहित हैं, ऐसे कार्यों में जो उत्तम श्रावक अपनी संमति तक नहीं देता उसको जन्म मरण रूप संसारका नाश करनेवाला अनुमतिविरत नामका श्रावक कहते हैं। यह दशवी प्रतिमाका स्वरूप है ॥५२८॥५२९॥

सर्वसंगं परित्यज्य मोहलोभादिकं तथा । संसारतारकं प्राप्य सद्गुरुं शांतिसौख्यदम् ॥५३०॥ तस्माद् व्रतं गृहीत्वेति खण्डवस्त्रं च धारयन् । अनुद्दिष्टं सदाहारं गृह्णन् गुरुकुले वसन् ॥५३१॥ करोति ध्यानं स्वाध्यायं सर्वथा स्वात्मसाधनं । उत्तमः श्रावकः सोऽयमुद्दिष्टाहारवर्जितः ॥५३२॥

जो पुरुष समस्त परिग्रहोंको त्याग कर तथा लोभ मोहादिका त्याग कर संसारसे पार करनेवाले और शांति सुखको देनेवाले श्रेष्ठ गुरुके समीप जाता है, तथा उन से व्रत धारण कर खंडवस्त्र धारण करता है, सदा उद्दिष्टरहित आहार लेता है, गुरुकुलमें ही निवास करता है तथा ध्यान स्वाध्याय और सब प्रकारसे अपने आत्माको शुद्ध करने का साधन किया करता

है उसको उद्दिष्टाहार त्यागी उत्तम श्रावक कहते हैं। यह ग्यारहवीं प्रतिमा का स्वरूप है ॥३०॥

इति श्री मुनिराजकुंथुसागरविरचिते बोधामृतसारग्रंथे श्रावकधर्म
वर्णनो नाम चतुर्थोऽधिकारः

इस प्रकार मुनिराज श्री कुंथुसागरविरचित बोधामृतसारनामके ग्रंथमें श्रावकधर्मको
वर्णन करनेवाला यह चौथा अधिकार समाप्त हुआ।

अथ प्रशस्तिः।

प्रसिद्धे मूलसंघेऽस्मिन् शुद्धे सेनान्वये वरे। गच्छे पुष्करके जातो जिन-सेनो महाकविः ॥१॥ देवेंद्रकीर्तिः संजातस्तस्य शिष्यान्वये शुभे। धर्मस्य नेता तच्छिष्यः सूरिः श्रीशांतिसागरः ॥२॥

इस प्रसिद्ध शुद्ध मूलसंघके सेनगण और पुष्कर गच्छमें प्रसिद्ध आचार्य जिनसेन महाकवि हुए हैं। उन आचार्य जिनसेन की शिष्यपरंपरामें मुनिराज देवेंद्रकीर्ति हुए हैं, और उन देवेंद्रकीर्तिके शिष्य धर्मके मुख्य नेता आचार्य शांतिसागर हुए हैं ॥१॥२॥

आसीदयं महासूरिर्भोजग्रामनिवासिनः। भीमगौडस्य सत्पत्न्यां सुपुत्रः सातगौडकः ॥३॥ मुनिदीक्षां समादाय प्राप्तःसूरिपदं क्रमात्। मम दीक्षा-गुरुःसोऽयं जीयादाचंद्रतारकम् ॥४॥

ये आचार्य शांतिसागर महाराज भोज (बेलगांव) गांवके रहने वाले पाटील भीमगौड के सुपुत्र थे उनका नाम सातगौड था और उनकी माताका नाम सत्यवती था। उन सात गौडने मनिदीक्षा ग्रहण कर अनुक्रमसे आचार्य पद प्राप्त किया है। वे ही आचार्य श्री शांतिसागर मेरे दीक्षागुरु हैं और वे मेरे दीक्षागुरु आचार्य शांतिसागर इस पृथ्वीपर जबतक चन्द्र और नक्षत्रगण रहे तबतक जयवंत रहें ॥३॥४॥

मुमुक्षुस्तस्य शिष्योऽहं मुनिः श्रीकुंथुसागरः। अन्ये च बहवः शिष्याः संजातास्तस्य योगिनः ॥५॥

अर्थः—मोक्षकी इच्छा रखनेवाला मैं मुनि श्री कुंथुसागर उन्हीं आचार्य शान्तिसागरका शिष्य हूं। उन आचार्यके मेरे सिवाय और भी बहुतसे शिष्य हैं ॥ ५ ॥

श्रीवीरसागरो विद्वान् गुणज्ञो नेमिसागरः। श्रीचन्द्रसागरो योगी दयालुः पायसागरः ॥६॥ नमिसागरयोगीशो मुमुक्षुरादिसागरः। स्मार्तो वक्तातपस्वी च मुनिः सुधर्मसागरः ॥७॥

विद्वान् वीरसागर, अनेक गुणोंको जानने वाले दोनों नेमिसागर, योगिराज चन्द्रसागर, दयानिधि पायसागर योगिराज नमिसागर, मोक्षकी इच्छा रखनेवाले आदि सागर और स्मृति शास्त्रोंके ज्ञाता परम वक्ता तथा तपस्वी मुनिराज सुधर्मसागर आदि अनेक उनके शिष्य हैं ॥६-७॥

मध्यभारतदेशस्थचावलीग्रामवासिनः । तोतारामस्य मेवाया धर्मज्ञो वरनन्दनः ॥८॥ नन्दनलालश्च विद्वान् मुनिर्भूत्वा सुधर्मधीः । सुधर्मसागरो जातः सूरिकल्पः प्रपाठकः ॥९॥ सुधर्मध्यानदीपादिशास्त्राणां मूलकारकः । सुधर्मसागरः सोऽयं जीयाद्विद्यागुरुर्मम ॥१०॥

मध्यभारतके चावली गांवके रहनेवाले तोताराम के उनकी धर्मपत्नी मेवासे उत्पन्न हुआ एक धर्मात्मा सुपुत्र था नन्दनलाल उसका नाम था । वह नदनलाल विद्वान् था और सद्बुद्धि को धारण करता था । वही नन्दनलाल मुनिदीक्षा लेकर सुधर्मसागर के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । वे आचार्य के समान सबको पढानेवाले है और मेरे विद्यागुरु है । ऐसे वे सुधर्मसागर मुनि सदा जीवित हैं ॥ ८–९–१० ॥

एनापुरस्थसातप्पासरस्वत्योः सुतोत्तमः । रामचन्द्रः सुदीक्षित्वा जातोऽहं कुंथुसागरः ॥११॥

एनापुर (बेलगांव) के रहनेवाले सातप्पा और सरस्वतीका उत्तम पुत्र रामचन्द्र मुनि-दीक्षा लेकर मैं कुंथुसागर मुनि हुआ हूं ॥ ११ ॥

चतुर्विंशतितीर्थेशस्तुतिः पंचगुरुस्तुतिः । चरित्रं शांतिसिंधोश्च भावना रचिता मया ॥१२॥

मैने अबतक चतुर्विंशात तीर्थंकर की स्तुति, पंचपरमेष्ठी स्तुति, आचार्य शांतिसागरजी का चरित्र और आत्मभावना आदि ग्रंथोंकी रचना की है ॥ १२ ॥

उदगिरे पुरे श्रेष्ठी गंगासानामकोऽभवत् । तद्भार्या रुक्मिणी ज्ञेया रामचन्द्रः सुतस्तयोः ॥ सूरेराज्ञां समादाय मयैव कुंथुसिंधुना । दीक्षितः सोऽपि भव्यात्मा विद्वान् सुमतिसागरः ॥१४॥

उदगिरि नगरमें एक सेठ गंगासा रहते हैं उनकी स्त्रीका नाम रुक्मिणी है उन दोनोंके रामचन्द्र नामका पुत्र था मुझ कुंथुसागर मुनिने आचार्य शान्तिसागर की आज्ञा लेकर उस भव्य और विद्वान् रामचन्द्रको मुनि दीक्षा दी है और सुमतिसागर उनका नाम निर्देश किया है ॥ १३ ॥ १४ ॥

अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा स्खलनं यदि मे भवेत् । ग्रंथेऽस्मिन् तद् बुधा नित्यं श्रमणाः शोधयंत्विति ॥१५॥

मेरे अज्ञान वा प्रमाद से यदि इस ग्रंथमें कुछ कमी वा भूल रह गई हो तो विद्वान् मुनियों को उसे शुद्ध कर लेना चाहिये ॥ १५ ॥

जयतु जयतु देवः शांतिनाथो जिनेन्द्रः । सुरनरमुनिपूज्यो वर्द्धमानो जिनेशः शिववरसुखदात्री वीरवाणी सदैव । मम शुभमतिदाता शांतिसिंधुः सुधर्मः ॥१६॥

परमदेव भगवान शान्तिनाथ जिनराज सदा जयवंत रहें। देव मनुष्य और मुनियो के द्वारा पूज्य श्री वर्धमान भगवान सदा जयवत रहे। इसीप्रकार मोक्ष सुख देनेवाली भगवान महावीर स्वामी की वाणी सदा जयवत रहे और मुझको शुभबुद्धि देनेवाले आचार्य शान्तिसागर तथा सुधर्मसागर सदा जयवत रहे ॥ १६ ॥

छंदोलंकारशास्त्रे वा न च काव्यकलादिकं। नैव नीत्यादिशास्त्रं च न्यायव्याकरणादिकम् ॥१७॥ विशेषं धर्मशास्त्रं वा नैव जानामि तत्त्वतः। तथापि केवलं भक्त्या लिखितोऽय मयाधुना ॥१८॥

यद्यपि मैं छद-शास्त्र, अलकार शास्त्र वा काव्य शास्त्र और कलादिको को नहीं जानता हू, न मैं नीतिशास्त्रको जानता हू और न न्याय व्याकरणादिक जानता हूं। तथा विशेष रीति से धर्मशास्त्रको भी अच्छी तरह नहीं जानता तथापि केवल भक्तिके वश होकर मैंने इस समय यह शास्त्र लिखा है ॥ १७ ॥ १८ ॥

दीक्षागुरोरेव च शांतिसिंधोः, संसारहर्तुः शिवसौख्यदातुः।
कृपाप्रसादाद्धि सुधर्मनाम्नो, विद्यागुरोरेव दयार्द्रमूर्तेः ॥१९॥
श्रीकुंथुनाम्ना मुनिना स्वबुध्द्या, स्वजन्ममृत्योश्च विनाशहेतोः।
तथा परेषां सुखशांतिहेतो–, र्यथार्थधर्मस्य च बोधहेतोः ॥२०॥

नाम्ना हि बोधामृतसार एव, ग्रंथो मनोज्ञो रचितश्च भक्त्या ।
अज्ञानहर्ता निजबोधकर्ता, भेत्ता ध्रुवं क्रोधचतुष्टयस्य ॥२१॥

जन्ममरणरूप, संसारको हरण करनेवाले और मोक्ष सुखको देनेवाले आचार्य श्रीशांतिसागरजी महाराज मेरे दीक्षा गुरु हैं तथा दयाकी मूर्ति ऐसे मुनिराज सुधर्मसागर जी महाराज मेरे विद्यागुरु हैं। इन्हीं दोनों गुरुओंकी कृपाके प्रसादसे कुंथुसागर मुनिने अपने जन्म मरण का नाश करने के लिए, अन्य जीवोंको सुख शांति प्राप्त करने के लिए और यथार्थ धर्मके ज्ञानका प्रचार करनेके लिए यह बोधामृतसार नामका ग्रन्थ अपनी बुद्धिके अनुसार बनाया है यह ग्रन्थ अत्यत मनोज्ञ है, अज्ञानको हरण करनेवाला है अपने आत्मज्ञान को उत्पन्न करने वाला है और क्रोध मान माया लोभ इन चारो कषायोंका नाश करनेवाला है। ऐसे इस ग्रन्थकी रचना मैने भक्तिपूर्वक की है ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

ग्रंथं ह्यमुं वांछितदं सदैव, स्मरन्ति गायन्ति पठन्ति भक्त्या ।
शृण्वन्ति वाञ्छन्ति नमन्ति यान्ति, त एव भव्या भुवि सारसौख्यम् ॥२२

जो भव्य पुरुष इच्छानुसार फल देने वाले इसग्रंथको सदा स्मरण करते हैं, गाते हैं, पढते हैं, भक्तिपूर्वक सुनते हैं, पढने सुननेकी इच्छा करते हैं, नमस्कार करते हैं और इसका संबंध प्राप्त करते हैं वे भव्य जीव इस संसारमें सारभूत सुखको पाकर धन धान्यादिकसे परिपूर्ण साम्राज्य लक्ष्मीको पाकर और धर्मानुकूल कुटुंब वर्गको पाकर अनुक्रमसे शीघ्र ही सदा अजर अमर रहनेवाले अपने आत्मजन्य अनंत सुखको प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥ २२ ॥

साम्राज्यलक्ष्मीं च धनादिपूर्णां, धर्मानुकूलं च कुटुंबवर्गम् ।
लब्ध्वैव शीघ्रं ह्यजरामरत्वं, क्रमाल्लभन्त निजसौख्यसारम् ॥२३॥
सिद्धिं विशुद्धिं विमलां समाधिं, पुत्रादिपौत्रं सुखशान्तिकान्तिम् ।
शौर्यं सुविद्यां सुधृतिं हि तेजः, स्वर्मोक्षलक्ष्मीं विदधातु देवः ॥२४॥

अंतमें वे भगवान अरहन्तदेव इस ग्रंथका पढने सुननेवालोंके लिये सिद्ध अवस्था प्रदान करें, विशुद्ध और निर्मल समाधि प्रदान करें, पुत्र पौत्र देवे, सुख शांति कांति शूरवीरता, श्रेष्ठविद्या, धैर्य और तेज प्रदान करे तथा स्वर्ग मोक्षकी लक्ष्मी प्रदान करें ॥ २३ ॥ २४ ॥

मोक्षं गते महावीरे सुखशान्तिप्रदायके । चतुर्विंशतिसंख्याते वा त्रिषष्ट्यधिके शते ॥२५॥ सिते कार्तिकपक्षे च द्वितीयायां शुभे दिने । ईडरराज्यान्तर्गते भिलोडातिसमीपगे ॥२६॥ स्थित्वा शुभमऊग्रामे वर्षायोगे शुभप्रदे । लिखितोऽयं मया ग्रंथो जीयादाचन्द्रतारकम् ॥२७॥

सुख और शांति देनेवाले भगवान महावीर स्वामीके मोक्ष जानेके बाद चौवीससौ तिरेसठ वर्ष बीत जानेपर कार्तिक शुक्ल पक्षके शुभ द्वितीया के दिन ईडर राज्यके अंतर्गत भिलोडा के समीप श्रेष्ठ मऊ गांवमें कल्याण करनेवाले वर्षायोगमें ठहर कर मैंने यह ग्रन्थ लिखा है । इस पृथ्वीपर जबतक चन्द्र और नक्षत्रगण विद्यमान रहें तबतक यह ग्रन्थ सदा चिरंजीव बना रहे ।

समाप्तोऽयं ग्रंथः ।